दंसण मूलो धम्मो

# आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९६ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २६ अंक नं० ३

## आनंद का मार्ग

संत कहते हैं कि हे जीव! इस घटाकार शरीर में आनंद से परिपूर्ण आत्मा विद्यमान है। अहा, आनंद से भरा हुआ आत्मा तेरे समीप ही है—तू स्वयं वह है; फिर तू क्यों अपने को आनंदित नहीं कर पाता? क्योंकि तू अपनी बुद्धि उसमें नहीं लगाता, तेरी बुद्धि कहीं अन्यत्र लगी हुई है; इसलिये अपने निजानंद का उपभोग तू नहीं कर पाता। यदि आनंदमय स्वतत्त्व में बुद्धि को लगा दे तो तेरा आत्मा आनंदित हो उठे!

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अगस्त : १९७० वार्षिक मूल्य ३) रुपये ( ३०३ ) एक अंक २५ पैसा [अषाढ : २४९६

श्रीमद् राजचंद्र कृत

# अमूल्य तत्त्व-विचार

अनुवादक:— 'युगल'जी ( कोटा ), एम.ए., साहित्य रत्न

( हरिगीत छंद )

बहु पुण्य-पुंज-प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला,
तो भी अरे ! भवचक्र का फेरा न एक कभी टला।
सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुक्ख जाता दूर है,
तू क्यों भयङ्कर-भावमरण-प्रवाह में चकचूर है ॥१ ॥

लक्ष्मी बढ़ी, अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये,
परिवार और कुटुंब है क्या वृद्धि ? कुछ नहिं मानिये।
संसार का बढ़ना अरे ! नर-देह की यह हार है,
नहिं एक क्षण तुझको अरे ! इसका विवेक विचार है ॥२ ॥

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद लो जहाँ भी प्राप्त हो,
यह दिव्य अंतस्तत्त्व जिससे बंधनों से मुक्त हो।
'परवस्तु में मूर्छित न हो' इसकी रहे मुझको दया,
वह सुख सदा हो त्याज्य अरे ! पश्चात् जिसके दुख भरा ॥३ ॥

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?
संबंध दुखमय कौन है ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?
इसका विचार विवेकपूर्वक शांत होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक-ज्ञान के सिद्धांत का रस पीजिये ॥४ ॥

किसका वचन उस तत्त्व की उपलब्धि में शिवभूत है,
निर्दोष नर का वचन रे ! यह स्वानुभूति प्रसूत है।
तारो अरे तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये,
'सर्वात्म में समदृष्टि द्यो' यह बच हृदय लिख लीजिये ॥५ ॥

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

# आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

अगस्त : १९७० ☆ अषाढ़, वीर नि०सं० २४९६, वर्ष २६ वाँ ☆ अंक : ३

## स्वसम्यग्ज्ञान की रीति

जैसे कोई दर्पण को सदाकाल अपने हाथ में लेकर दर्पण के पिछले भाग को बार-बार देखता है, इसलिये उसे अपना मुख दिखाई नहीं देता; परंतु उस दर्पण के पृष्ठ भाग को पलटकर स्वच्छ दर्पण में अपना मुख देखे तो वह दिखाई दे; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि इस संसार—तन-मन-वचन की तरफ और तन-मन-धन-वचनादि का जितना शुभाशुभ व्यवहार क्रियाकर्म तथा उसका शुभाशुभ फल है, उसकी तरफ देखता है, इसलिये स्वसम्यग्ज्ञान नहीं दिखाई देता—स्वानुभव में नहीं आता; परंतु इस संसार—तन-मन-धन-वचनादि की तरफ देखना छोड़कर स्वसम्यग्ज्ञान की तरफ निश्चय से देखे तो स्वसम्यग्ज्ञान ही दिखाई दे और स्वसम्यग्ज्ञानानुभव की अचलता-परमावगाढ़ता हो जाये। *(श्री सम्यग्ज्ञानदीपिका से)*

# अरिहंत परमात्मा की सच्ची स्तुति

भावनगर शहर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रसंग पर समयसार गाथा ३१ तथा ऋषभजिन-स्तोत्र पर किये गये प्रवचनों में से ग्रहण किये हुए ८१ बोल पूज्य स्वामीजी की ८१वीं जन्म-जयंती के उपलक्ष में यहाँ क्रमशः दिये जायेंगे। - ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

(१) यहाँ जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञ परमात्मा की स्थापना का उत्सव हो रहा है। सर्वज्ञ भगवान को पहिचानकर उनकी परमार्थ-स्तुति किसप्रकार होती है ? यह बात आचार्यदेव इस समयसार की ३१वीं गाथा में समझाते हैं। प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण है, उसका भान करके एकाग्रता द्वारा जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उनकी वाणी में आत्मा का जैसा शुद्ध स्वरूप कहा गया है, वैसा वीतरागी संतों ने स्वयं अनुभव करके शास्त्र में कहा है। ऐसा यह समयसार शास्त्र है। उसके लिखनेवाले श्री कुन्दकुन्दाचार्य और गवाही सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधर भगवान की।

(२) सर्वज्ञदशा प्रगट करने की ताकत प्रत्येक आत्मा में है। ऐसी सर्वज्ञदशा प्रगट हो जाने पर शरीर भी ऐसा स्फटिक जैसा परम औदारिक हो जाता है कि उसमें देखनेवाले दर्शक को सात भव दिखाई पड़ते हैं। उन सर्वज्ञ को क्षुधा, रोग अथवा आहार नहीं होता। होंठ के हलन-चलन बिना सहजरूप से दिव्यवाणी निकलती है। ऐसी अलौकिक वीतरागदशा को प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा आज भी विदेहक्षेत्र में विराजते हैं। ऐसे सीमंधर परमात्मा के पास यहाँ से कुन्दकुन्दाचार्यदेव गए थे। यह बात साक्षात्‌रूप से सिद्ध हो चुकी है। दो हजार वर्ष पहले हो गए ऐसे आचार्यदेव ने यह समयसार शास्त्र रचा है। जैन शासन का यह अलौकिक शास्त्र है, इसमें आत्मा की बात है।

(३) आत्मा के स्वभाव की बात जीव ने अंदर से प्रेमपूर्वक कभी सुनी नहीं; राग-द्वेष

और पुण्य-पाप की बात सुनकर उसका आदर किया है। यहाँ शरीर से भिन्न, रागादि से भिन्न, और खंड-खंड ज्ञान से भी पार ऐसे अखंड ज्ञायकस्वभावी आत्मा की पहिचान आचार्यदेव कराते हैं। ऐसे आत्मा का अनुभव ही सर्वज्ञ परमात्मा की सच्ची स्तुति है। राग में स्थिर रहकर सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति हो नहीं सकती। सर्वज्ञ परमात्मा की जाति में मिलकर, अर्थात् उनका जैसा अंश अपने में प्रगट करके ही सर्वज्ञ भगवान की निश्चय-स्तुति हो सकती है। ऐसी सच्ची स्तुति का स्वरूप इस ३१वीं गाथा में कहते हैं।

**ज्ञानस्वभाव से जीत इन्द्रियाँ जो अधिक जाने आत्म को,**
**निश्चय में स्थित साधुगण कहते जितेन्द्रिय हैं उसे॥३१॥**

(४) आत्मा के ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसके श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करना ही सर्वज्ञ भगवान की सच्ची स्तुति है। परमार्थ से यह आत्मा सर्वज्ञ भगवान जैसा ही है। समयसार गाथा ७२ आदि में आत्मा को ही भगवान कहा है। गुरु के उपदेश से अपने परमेश्वर आत्मा को जाना, ऐसा गाथा ३८ में कहा है। आस्रव, पुण्य-पाप वह तो अशुचि-अपवित्र है, और भगवान आत्मा तो अत्यंत पवित्र है, ऐसा गाथा ७२ में कहा है। इसप्रकार ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा स्वयं ही महिमावंत है और केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मा होने की शक्ति भी उसी में है। ऐसे भगवान आत्मा को स्वानुभव से पहचानना ही अरिहंत परमात्मा की प्रथम सच्ची स्तुति है।

(५) आत्मा का स्वभाव भगवान होने का है। पामर बना रहे और किसी की भक्ति करता ही रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। परंतु पामरता तोड़कर, भक्ति आदि का राग भी छोड़कर, स्वयं वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा होवे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव के सन्मुख हुए बिना सर्वज्ञ भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(६) इस शरीर की पर्यायरूप जड़ द्रव्येन्द्रियाँ, उन इन्द्रियों के सन्मुख हुआ खंड-खंड ज्ञान, वह भावेन्द्रिय और उस इन्द्रियज्ञान के विषयरूप बाह्यपदार्थ, इन तीनों को जीतकर अर्थात् इन तीनों को आत्मा से भिन्न जानकर एक ज्ञायकस्वभावरूप अपने को अनुभव करना, उसका नाम जितेन्द्रियपना है। इन्द्रियों को जो अपना स्वरूप माने, उसके जितेन्द्रियपना नहीं होता। अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञानमय अरिहंत की परमार्थ उपासना उसके नहीं होती।

(७) 'णमो अरिहंताणं' ऐसा बहुत से बोलते हैं, उन अरिहंत परमात्मा की परमार्थ-उपासना कैसे हो, उसका यह वर्णन है। अरिहंत का भक्त कैसा हो और उसे आत्मा का ज्ञान

कैसा होता है ? वह आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से बताया है। राग से भिन्न ऐसे आनंद के स्वादरूप आत्मा का अनुभव करने का नाम ही सर्वज्ञ की स्तुति है। यह निश्चयस्तुति है। निश्चयस्तुति में अपने आत्मा का ही अवलंबन है, उसमें पर का अवलंबन नहीं है।

(८) ऐसी निश्चयस्तुति जिसे प्रगट हुई हो अर्थात् आत्मा को राग से भिन्न जिसने अनुभव किया हो, उसको राग के विकल्प के समय बाहर में सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की आदर-स्तुति का भाव होता है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे का ग्रहण नहीं करता। राग और परिग्रहवाले कुदेव की वह कभी उपासना नहीं करता। सच्चे वीतराग परमात्मा के प्रति स्तुति का भाव भी राग है, पुण्यबंध का कारण है, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। अपने सर्वज्ञस्वभाव की तरफ अंतर्मुख होकर लीनता करना ही मोक्ष का कारण है। वही सर्वज्ञ की परमार्थ-स्तुति है।

(९) आत्मा का चैतन्यस्वभाव है, वह अति सूक्ष्म है। उसकी अपेक्षा पुण्य-पाप भी स्थूल हैं और जड़ इन्द्रियाँ तो अति स्थूल हैं। निर्मल भेदज्ञान की पवित्रता से अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव का अनुभव करने पर जड़ इन्द्रियों को जीव अपने से सर्वथा भिन्न जानता है। यह जड़ शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है। आत्मा सदा चैतन्यरूप ही रहा है और शरीर सदैव अजीवरूप ही रहा है, वह कभी जीवरूप हुआ नहीं। ऐसा भेदज्ञान जिसने किया, वह सर्वज्ञ के मार्ग में आ गया, वही अरिहंत का सच्चा अनुयायी हुआ और वही जैन हुआ।

(१०) अहो, ऐसा अवसर प्राप्त करके आत्मा और शरीर की भिन्नता की पहिचान करनी चाहिए। ज्ञान में बारंबार उसका अभ्यास करना चाहिए। दूसरे ग्रंथ तो बहुत पढ़े परंतु पर से भिन्न अपने ज्ञानानंदस्वभाव का सच्चा अभ्यास करे, तभी भव से तेरा छुटकारा होगा।

(११) आत्मा के अनुभव बिना चारों गतियों में जीव ने अनंत अवतार धारण किये हैं। भगवान तो कहते हैं कि संसार में भ्रमण करते हुए जीव ने नरक गति की अपेक्षा स्वर्ग के अवतार असंख्यात गुणे अधिक धारण किए हैं। स्वर्ग में कब जाता है ? पुण्य करे तब। अर्थात् पुण्यभाव अनंतबार कर चुकने पर भी जीव ने रंचमात्र सुख प्राप्त नहीं किया तो विचार करना चाहिए कि सुख का मार्ग कोई अन्य ही है। पुण्य से पार आत्मा है, उसका ध्यान करना ही सुखी होने का मार्ग है।

(१२) आत्मा स्वयं ज्ञान और सुखस्वरूप है, वह रागरूप या देहरूप नहीं है।

सुखस्वरूप आत्मा को रागस्वरूप मानना तो भगवान आत्मा का तिरस्कार है। अरिहंतों ने तो राग से धर्म नहीं होता, अपितु वीतरागभाव से ही धर्म होता है, ऐसा कहा है। अज्ञानी कहता है कि शुभराग से धर्म होता है—तो उसने अरिहंत की स्तुति नहीं की बल्कि अरिहंतों के वीतराग मार्ग का अनादर करके उनकी अस्तुति ही की है। राग का जिसने आदर किया, उसने अरिहंतों का अनादर किया। यह तो अरिहंतों का अलौकिक वीतरागमार्ग है।

(१३) भगवान कहते हैं कि यदि तुझे मेरी परमार्थ-स्तुति करनी है तो मेरे सामने मत देख, अपितु अपने ज्ञानस्वभाव की ओर देख। मेरे सामने देखने से मेरी परमार्थ-स्तुति नहीं हो सकती परंतु अपने स्वभाव-सम्मुख दृष्टि करके ज्ञानानंदस्वभाव का अनुभव करे तो तू भी मेरे समान हो जावेगा। इस भाँति स्व-सन्मुख अतीन्द्रिय भाव से ही सर्वज्ञ के मार्ग की आराधना होती है, वही मोक्षमार्गरूप धर्म है।

(१४) वन-जंगल में रहनेवाले और आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में झूलनेवाले पद्मनंदी मुनिराज के बनाए हुए इस पंचविंशतिका शास्त्र में भगवान ऋषभदेव की स्तुति का एक अधिकार है। यहाँ पंचकल्याणक उत्सव में भी भगवान ऋषभदेव के पंचकल्याणक का दृश्य होनेवाला है। अरिहंत परमात्मा कैसे होते हैं ? उनके आत्मा की सच्ची पहचान करने पर आत्मा के स्वरूप की पहिचान होती है, मोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन होता है। यह बात प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में समझाई है।

(१५) जगत में अनंत आत्मायें हैं और प्रत्येक ज्ञानस्वभावी है; उनकी अवस्थायें तीन प्रकार की होती हैं। (१) जो बाह्य वस्तुओं अथवा रागादि बाह्यभावों को आत्मरूप से अनुभव करते हैं, वह बहिरात्मा हैं। (२) जो पर से भिन्न अपने ज्ञानानंदस्वरूप को अंतर में देखते हैं और साधन करते हैं, वह अंतरात्मा हैं। (३) आत्मा के परम स्वरूप को जानकर वैसा ही परिपूर्ण जिन्होंने प्रगट किया है, वह परमात्मा हैं। इसप्रकार परमात्मा की पहिचान और भक्ति का यह वर्णन है। आत्मा की पहिचान बिना परमात्मा की सच्ची पहिचान नहीं होती और बिना पहिचान की स्तुति को सच्ची स्तुति नहीं कहते। इसीलिए समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हे प्रभो! राग की ग्रंथि से युक्त मिथ्यादृष्टि जीवों का चित्त आपकी उपासना नहीं कर सकता। सम्यग्दृष्टि ही आपकी वास्तविक उपासना करता है।

(१६) समयसार गाथा ३१ में भगवान की निश्चय-स्तुति की बात है। वह निश्चय-

स्तुति तो रागरहित ही है और आत्मा के अनुभवरूप है। और इस पद्मनंदीपच्चीसी में आत्मभानपूर्वक की व्यवहारस्तुति की बात है। वह व्यवहारस्तुति शुभरागरूप है, उसमें पर का आश्रय है। धर्मी जीव को सर्वज्ञ भगवान के प्रति आदर-भक्ति का भाव आता है।

(१७) सर्वज्ञ भगवान कैसे होते हैं? और इस आत्मा का स्वरूप क्या है?—इसकी पहिचान करनी चाहिये। बाल्यकाल से ही आत्मा में उसके संस्कार डालना चाहिये। १६ वर्ष की उम्र में श्रीमद् राजचंद्रजी लिखते हैं कि—

हुं कौण छुं? क्यांथी थयो, शुँ स्वरूप छे मारुं खरुँ
कोना संबंधे वलगणा छे, राखुँ के ऐ परिहरुँ।
एना विचार विवेक पूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धांत तत्त्वो अनुभव्यां॥

भाई, ऐसा मनुष्य अवतार पाकर आत्मतत्त्व का विचार तो कर।

(१८) श्रीमद् राजचंद्रजी इस 'पद्मनंदी' शास्त्र को 'वनशास्त्र' कहते थे। वन में रहनेवाले वीतरागी मुनिराज ने इस शास्त्र की रचना की है। मुनिराज अंदर के आनंदधाम में बारंबार जाकर निर्विकल्प आनंद का स्वाद लेते थे। ऐसे दिगम्बर मुनिराज, मानों आज भी ऋषभदेव भगवान अरिहंत पद में समवसरण में विराजमान हों और उनके समीप स्वयं उनकी स्तुति करते हों! ऐसे उत्तम भाव से भगवान की स्तुति करते हैं। 'जय ऋषभनाभिनंदनं...'

(१९) वीतराग भगवान की स्तुति कौन करता है?

जिसने राग से भिन्नता का भान किया हो, वही वीतराग की सच्ची स्तुति करता है। जिसे राग से भिन्नता का अनुभव न हो, वह वीतराग की स्तुति कर ही नहीं सकता। क्योंकि वह वीतरागता को तो पहचानता ही नहीं। यह तो सच्ची पहिचानपूर्वक की भक्ति है।

(२०) भगवान कैसा है, यह भी बहुत से लोग जानते नहीं हैं। भगवान तो सर्वज्ञपद को प्राप्त आत्मा हैं, वह जगत के त्रिकाल के पदार्थों के ज्ञाता हैं परंतु पदार्थों के कर्ता नहीं। वस्तु अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध है, उसका कोई बनानेवाला नहीं है।

(२१) कोई ऐसा कहे कि अमुक वस्तु को (जीव या अजीव को) मैंने नया नया बनाया, इसका अर्थ यह हुआ कि उससे प्रथम उस वस्तु को जो अस्तित्व था, वह उसने जाना नहीं अर्थात् वह सर्वज्ञ नहीं। इसप्रकार जो वस्तु का कर्तापना माने, उसे वस्तु के अनादि-अनंत

अस्तित्व की खबर नहीं है अर्थात् वह सर्वज्ञ नहीं है। पर की कर्ताबुद्धि जहाँ है, वहाँ सर्वज्ञपना तो होता ही नहीं, साथ ही स्वरूप की सच्ची पहिचान भी नहीं होती। रागादि परभाव का जो ज्ञाता है, वह उसका कर्ता नहीं है और जो कर्ता होता है, वह ज्ञाता नहीं होता।

(२२) सर्वज्ञ भगवान के अनंत गुणों का पूर्ण वैभव प्रगट हो गया है। उसकी पहिचान कर स्वयं में उसका अल्पांश प्रकट करना ही भगवान की स्तुति है। अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही सर्वज्ञ की प्रथम स्तुति है।

(२३) स्तुतिकार कहते हैं कि हे भगवान! इन्द्र ने जब आपके चरणों में नमस्कार किया, तब आपके चरण नख की प्रभा से उसका मुकुट जगमगा उठा- अर्थात् इन्द्र के मुकुट की शोभा भी आपके चरणों से ही है। वास्तविक शोभा मुकुट की नहीं किंतु आपके चरणों की है। अर्थात् आपके वीतरागी चरणों के समक्ष इन्द्रादि पुण्यफल भी हमें तुच्छ लगता है। अहो, इन्द्र भी भक्ति से जिसे पूजें, उसकी महिमा की क्या बात! ऐसी महिमा पहिचानकर वीतराग भगवान की जो भक्ति करता है, वह धन्य है।

(२४) 'णमो अरिहंताणं'—अरिहंतों को नमस्कार हो! यह नमस्कार गुणवाचक है। आत्मा के सर्वज्ञतादि गुणों को प्रकट करके जिसने राग-द्वेष-मोहरूप अरि (शत्रु) का हनन किया, वह अरिहंत है। अनंत जीवों में से जो कोई जीव सर्वज्ञतादि गुण प्रगट करे, उसे अरिहंत कहते हैं, वही परमेश्वर है, वही सच्चा देव है। ऐसे वीतरागदेव का स्वरूप जानकर उनकी स्तुति कैसे की जाती है, उसका यह वर्णन है।

(२५) भाई, इस जन्म-मरण से छूटने की और आनंदमय मोक्षपद पाने की कोई अलौकिक रीति है। संसार के राग-रस की ओट में जीव को अपना सत्यस्वरूप लक्ष में नहीं आया। आत्मस्वरूप जिसने प्राप्त कर लिया है, वह देव कैसा होता है? उसको साधनेवाला गुरु कैसा होता है? उसका व्याख्यान करनेवाला शास्त्र कैसा होता है? उसकी पहिचान करनी चाहिए। नमस्कार मंत्र में उन देव-गुरु को नमस्कार किया है। पंचपरमेष्ठी पद आत्मा की शुद्ध दशा है, वह वीतराग-विज्ञानमय है और उसकी पहिचान भी वीतराग-विज्ञान से ही होती है।

(२६) आत्मा की दिव्य शक्ति को प्रगट करे, वह देव; आत्मा के शुद्ध स्वरूप को साधे-अनुभवे, वह साधु। आत्मा के ज्ञान बिना साधुपना नहीं होता। साधु अर्थात् मोक्ष का साधक, आत्मा के शुद्धस्वरूप का साधक। वह अंतर्मुख होकर चैतन्य के आनंद का स्वाद लेता है।

(२७) अज्ञानी के न तो आत्मा के आनंद का स्वाद है और न जड़ का ही स्वाद है। वह तो बीच में ही राग-द्वेष की कल्पना करके विकार का-जहर का स्वाद लेता है, वह दुःख है, संसार है। संसार कोई बाहर की वस्तु नहीं है, शरीर में या घर में जीव का संसार नहीं है। जीव का अज्ञानमय भाव ही संसार है। और भेदज्ञान से शुद्ध ज्ञानानंददशा प्रगटे, वही मोक्ष है। संसार और मोक्ष दोनों जीव की ही दशा में हैं।

(२८) स्वरूप की अप्राप्ति, वह संसार; स्वरूप की प्राप्ति, वह मोक्ष। अनादि से स्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं हुई, और अब स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो ? यह बात संतों ने शास्त्र में बताई है। जड़, चेतन का भेदज्ञान करके जिसमें आनंद की कल्लोलें उछलें, ऐसे ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान कहते हैं। भेदज्ञान बिना अकेले बाहर के जानपने में जीव को शांति या आनंद नहीं है और जिसमें आनंद न हो, उसे सच्चा ज्ञान नहीं कहते।

(२९) देह से भिन्न आत्मा का आनंद जिसने नहीं देखा, उसको दीक्षा कैसी ? दीक्षा तो विशेष वीतरागी अनुभवदशा है। मुनिराज तो बारंबार अंतर में उपयोग को एकाग्र करके निजानंद का अनुभव करते हैं। आत्मा ज्ञान-प्रकाश का पुंज है, रागादि परभावों से उसकी भिन्नता के तीव्र अभ्यास द्वारा भेदज्ञान प्रगट होता है, पश्चात् उसमें विशेष एकाग्रता होने से शरीर पर वस्त्रादि धारण करने का मोह भी छूट जाता है। ऐसी वीतरागदशा हो, तब मुनि-दीक्षा होती है, वह महा आनंदरूप है। बाकी आत्मा के ज्ञान बिना तो शुभराग करके—

'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥'

आत्मा के ज्ञान बिना शुभराग करके स्वर्ग में जाकर भी जीव दुःखी हुआ, किंचित् भी सुख नहीं पाया। सुख का अनुभव तो तब हो, जब राग से जुदा होकर ज्ञानचेतना प्रगट करे।

(३०) देखो, यह किसका उत्सव है ? अनंत आनंद को प्राप्त हुए जो परमात्मा, उनको पहिचानकर इस प्रतिमा में उनकी प्रतिष्ठा हो रही है। उसीप्रकार अपना आत्मा परमेश्वर होने की शक्तिवाला है, उसकी पहिचान करके उसमें से परमात्मपद प्रगट करने की यह बात है। आत्मा को ही परमेश्वर बनाने की यह बात है।

(३१) सर्वज्ञ परमात्मा की बहुत प्रकार से स्तुति करने के बाद अंत में मुनिराज कहते हैं कि हे भगवान! विकल्प में और वाणी में तो आपके कितने गुण आ सकते हैं ? अनंत गुण के

निधान ऐसे आपकी स्तुति तो विकल्प तोड़कर आत्मा के अनुभव में एकाग्र होने पर ही पूर्ण हो सकती है। प्रभो! बाहर के इन चर्मचक्षुओं से भी आपके दर्शन करने पर विपुल हर्ष होता है तो अंतर के ज्ञानचक्षु से आपके दर्शन करने पर जो परम आनंद प्राप्त होगा, उसकी तो बात ही क्या!

(३२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को रत्न कहा है और उनके फलस्वरूप जो केवल-ज्ञानादि प्रगट हुए, वह महा रत्न हैं। ऐसे अनंत रत्नों की खान आत्मा है, इसलिए वह महा चैतन्य-रत्नाकर है। ऐसा रत्नाकर स्वयं होने पर भी जीव को अपना भान नहीं है और बाहर की लक्ष्मी आदि से महानता मानता है। अपने में ही अरिहंत पद का ध्यान करने पर जो आनंद होता है, उसे तो धर्मी ही जानता है।

(३३) अरिहंत दशा तो आत्मा में प्रगट नहीं है तो फिर उसका ध्यान कैसे? तो कहते हैं कि अरिहंतपना आत्मा के स्वभाव में तो विद्यमान ही है, उस स्वभाव का ध्यान करने पर आनंद प्रगट होता है। अंदर जो सत्-स्वभाव है, उसका ध्यान सार्थक है, वह झूठा नहीं है। अर्थात् 'मैं सिद्ध हूँ—मैं अरिहंत है' ऐसा निजस्वभाव का जो ध्यान है, वह सत्य है। यदि वह सत्य न हो तो उसके फल में आनंद किसप्रकार आवे?

(३४) अरिहंत-सिद्ध जैसे शुद्धस्वभावी अपने आत्मा का ध्यान करना ही अरिहंत और सिद्ध की सच्ची भक्ति है। इसके अलावा राग या विकल्प, वह कहीं मूल वस्तु नहीं है; बाहर की क्रियायें तो जड़ की क्रियायें हैं। वह जड़ क्रियायें अथवा राग कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। 'परमात्मस्वरूप मैं ही हूँ'—ऐसा निजस्वरूप का ध्यान ही मोक्ष का कारण है।

*( -शेष अगले अंक में )*

## आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी कृत

# गोम्मटसार-पीठिका

### [ आत्मधर्म के लिये मूल प्रति में से भाषा-परिवर्तन सहित प्रस्तावना ]

( लेखांक-२ )

यहाँ कोई तर्क करे कि—कोई जीव शास्त्र-अध्ययन तो बहुत करता है और विषयादिक का त्यागी नहीं होता तो उसको शास्त्र-अध्ययन कार्यकारी है या नहीं ? यदि है ! तो महंत पुरुष क्यों विषयादिक तजें ? और नहीं तजें तो ज्ञानाभ्यास की महिमा कहाँ रही ? उसका समाधान—शास्त्राभ्यासी दो प्रकार हैं—(१) लोभार्थी (२) आत्मार्थी। १- वहाँ अंतरंग अनुराग के बिना ख्याति-लाभ-पूजादिक के प्रयोजन से शास्त्राभ्यास करे, वह लोभार्थी है। वह विषयादिक का त्याग नहीं करता। अथवा ख्याति पूजा लाभादिक के अर्थ विषयादिक का त्याग भी करे, फिर भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है।

२- जो जीव अंतरंग अनुराग से आत्महित के अर्थ शास्त्राभ्यास करता है, वह धर्मार्थी है। प्रथम तो जैनशास्त्र ही ऐसे हैं कि जो उनका धर्मार्थी होकर अभ्यास करता है, वह विषयादिक का त्याग करता ही है। उसका तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है ही।

कदाचित् पूर्वकर्मोदय की प्रबलता से (अर्थात् कषायशक्ति की प्रबलता होने से) न्यायरूप विषयादिक का त्याग न हो तो भी उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने से ज्ञानाभ्यास कार्यकारी होता है। जिसप्रकार असंयत गुणस्थान में विषयादिक के त्याग बिना भी मोक्षमार्गपना संभव है।

**प्रश्न**—जो धर्मार्थी हुआ है, जैनशास्त्र का अभ्यास करता है, उसके विषयादिक का त्याग न हो सके, ऐसा तो नहीं बनता। विषयादिक का सेवन परिणामों से होता है, परिणाम स्वाधीन है।

**समाधान**—परिणाम ही दो प्रकार हैं (१) बुद्धिपूर्वक (२) अबुद्धिपूर्वक। अपने अभिप्राय के अनुसार हो, वह बुद्धिपूर्वक और दैव (कर्म) निमित्त से अपने अभिप्राय से अन्यथा (विरुद्ध) हो, वह अबुद्धिपूर्वक। जैसे सामायिक करने में धर्मात्मा का अभिप्राय तो ऐसा है कि मैं मेरे परिणाम शुभरूप रखूँ, वहाँ जो शुभ परिणाम ही हों, वह तो बुद्धिपूर्वक, और

कर्मोदय से (कर्मों के उदय में युक्त होने से) स्वयंमेव अशुभ परिणाम होता है, वह अबुद्धिपूर्वक जानना। (यह दृष्टांत है) उसीप्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्र का अभ्यास करता है, उसका अभ्यास तो विषयादिक के त्यागरूप वीतरागभाव की प्राप्ति का ही होता है; वहाँ पर वीतरागभाव हुआ, वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोह के उदय से (-उदय के वश होने पर) सरागभाव (आंशिक च्युति; पराश्रयरूप परिणाम) होता है, वह अबुद्धिपूर्वक है। अत: स्ववश बिना (परवश) जो सरागभाव होता है, उसके द्वारा उसको विषयादिक की प्रवृत्ति दिख रही है, इसलिये बाह्य प्रवृत्ति का कारण परिणाम है।

यहाँ तर्क **प्रश्न**—यदि इसप्रकार है तो हम भी विषयादिक का सेवन करेंगे—हमारे उदयाधीन कार्य होते हैं। **उत्तर**—रे मूर्ख! कुछ कहने से होता नहीं! सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार है, इसलिये जैनशास्त्र के अभ्यास द्वारा अभिप्राय को सम्यक्‌रूप करना। और अंतरंग में विषयादिक सेवन का अभिप्राय हो तो धर्मार्थी नाम कैसे प्राप्त होगा? अत: धर्मार्थीपन बनता ही नहीं। इसप्रकार चरणानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब द्रव्यानुयोग का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र में जीव के गुणस्थानादिरूप विशेष और कर्म के विशेष (भेद) का वर्णन किया है, किंतु उनकी जानने से तो अनेक विकल्प-तरंग उत्पन्न होते हैं और कुछ सिद्धि नहीं है। इसलिये अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना वा स्व-पर का भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है, अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्मशास्त्र उन्हीं का अभ्यास करनायोग्य है। अब उसी कहो कहते हैं—

हे सूक्ष्माभास! तूने कहा, वह सत्य है, किंतु अपनी अवस्था देखना। जो स्वरूपानुभव में वा भेदविज्ञान में उपयोग निरंतर रहता है तो अन्य विकल्प क्यों करने? वहाँ ही स्वरूपानंद सुधारस का स्वादी होकर संतुष्ट होना। किंतु नीचली अवस्था में वहाँ निरंतर उपयोग रहता ही नहीं, उपयोग अनेक अवलंबनों को चाहता है। अत: जिसकाल वहाँ उपयोग न लगे, तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना। तूने कहा, जो अध्यात्मशास्त्र का ही अभ्यास करना युक्त है; किंतु वहाँ भेदविज्ञान करने के लिये स्व-पर का सामान्यपने स्वरूप-निरूपण है और विशेष ज्ञान बिना सामान्य का जानना स्पष्ट नहीं होता। इसलिये जीव और कर्म का विशेष अच्छी तरह जानने से ही स्व-पर का जानना स्पष्ट होता है। उस विशेष जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास करना। कारण—सामान्यशास्त्र से विशेष-शास्त्र बलवान है। वही कहा

है—'सामान्य शास्त्र तो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।'

यहाँ कहते हैं कि अध्यात्मशास्त्रों में तो गुणस्थानादि विशेषों (-भेदों) से रहित शुद्धस्वरूप का अनुभव करना उपादेय कहा है और यहाँ गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन है। इसलिये इस शास्त्र में तो विरुद्ध भासित होता है, वह कैसे हैं ? उसे कहते हैं—नये दो प्रकार के हैं:—१-निश्चय, २-व्यवहार।

निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित अभेद वस्तु मात्र ही है। और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेष सहित अनेक प्रकार है। वहाँ जो जीव सर्वोत्कृष्ट अभेद एक स्वभाव का अनुभव करता है, उसको तो वहाँ शुद्धउपदेशरूप जो शुद्धनिश्चय, वही कार्यकारी है और जो स्वानुभवदशा को प्राप्त नहीं हुआ है वा स्वानुभवदशा से छूटकर सविकल्पदशा को प्राप्त हुआ है, ऐसा अनुत्कृष्ट जो अशुद्धस्वभाव, उसमें स्थित जीव को व्यवहारनय (उस काल में जाना हुआ-जानने के अर्थ में) प्रयोजनवान है। वही आत्मख्याति अध्यात्म-शास्त्र में कहा है!

**सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं।**
**ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥**

**(समयसार, १२)**

इस सूत्र के व्याख्यान के अर्थ को विचारकर देखना। सुनो! तुम्हारे परिणाम स्वरूपानुभव दशा में तो वर्तते नहीं। और विकल्प जानकर गुणस्थानादि भेदों का विचार नहीं करोगे तो तुम इतः भ्रष्ट ततो भ्रष्ट होकर अशुभोपयोग में ही प्रवर्तन करोगे, वहाँ तेरा बुरा होगा। सुन! सामान्यपने से तो वेदांत आदि शास्त्राभासों में भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहते हैं, वहाँ विशेष को जाने बिना यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे हो ?

इसलिये गुणस्थानादि विशेष जानने से शुद्ध-अशुद्ध-मिश्र अवस्था का ज्ञान होता है, तब निर्णय करके यथार्थ का अंगीकार करो, सुन! जीव का गुण ज्ञान है, सो विशेष जानने से आत्मगुण प्रगट होता है, अपना श्रद्धान भी दृढ़ होता है, जैसे सम्यक्त्व है, वह केवलज्ञान प्राप्त होते परमावगाढ़ नाम को प्राप्त होता है, इसलिये विशेष जानना।

**प्रश्न**—आपने कहा वह सत्य, किंतु करणानुयोग द्वारा विशेष जानने से भी द्रव्यलिंगी मुनि अध्यात्मश्रद्धान बिना संसारी ही रहते हैं, और अध्यात्म का अनुसरण करनेवाले तिर्यंचादिक को अल्प श्रद्धान से भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, वा 'तुषमाष भिन्न' इतना ही

श्रद्धान करने से शिवभूति नामक मुनि मुक्त हुए, अत: हमारी बुद्धि से तो विशेष विकल्पों का साधन होता नहीं। प्रयोजनमात्र अध्यात्म का अभ्यास करेंगे। अब उसको कहते हैं—

**उत्तर**—जो द्रव्यलिंगी जिसप्रकार करणानुयोग द्वारा विशेष को जानता है, उसीप्रकार अध्यात्मशास्त्रों का ज्ञान भी उसको होता है, किंतु मिथ्यात्व के उदय से (मिथ्यात्व वश) अयथार्थ साधन करता है, तो शास्त्र क्या करे? जैन शास्त्रों में तो परस्पर विरोध है नहीं, कैसे? वह कहते हैं—करणानुयोग के शास्त्रों में भी तथा अध्यात्मशास्त्रों में भी रागादिक भाव आत्मा के कर्म-निमित्त से उत्पन्न कहे हैं, द्रव्यलिंगी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है, और शरीर आश्रित सर्व शुभाशुभ क्रिया पुद्गलमय कही है, किंतु द्रव्यलिंगी उसे अपनी जानकर उसमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है। 'सर्व ही शुभाशुभभाव आस्रव-बंध के कारण' कहे हैं किंतु द्रव्यलिंगी शुभक्रिया को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण मानता है। शुद्धभाव को संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण कहा है, किंतु द्रव्यलिंगी उसको पहचानते ही नहीं। और शुद्धात्मस्वरूप को मोक्ष कहा है, उसका द्रव्यलिंगी को यथार्थ ज्ञान ही नहीं है, इसप्रकार अन्यथा साधन करे तो उसमें शास्त्रों का क्या दोष? तूने कहा कि तिर्यंचादिक को सामान्य श्रद्धान से कार्यसिद्धि कही, तो उनके भी अपने क्षयोपशम के अनुसार विशेष का जानना होता ही है। अथवा पूर्व पर्यायों में (पूर्वभव में) विशेष का अभ्यास किया था, उसी संस्कार के बल से (विशेष का जानना) होता है। जिसप्रकार किसी ने कहीं पर गड़ा हुआ धन पाया, तो हम भी उसीप्रकार 'पावैंगे', ऐसा मानकर सभी को व्यापारादिक का त्याग न करना। उसीप्रकार किसी को अल्प श्रद्धान द्वारा ही कार्यसिद्धि हुई है तो 'हम भी इसप्रकार की कार्य की सिद्धि करेंगे' ऐसा मानकर सब ही को विशेष अभ्यास का त्याग करना उचित नहीं, इसलिये ये राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग तो यही है जिससे नानाप्रकार के विशेष (भेद) जानकर तत्त्वों का निर्णय होते ही कार्यसिद्धि होती है। तूने जो कहा कि मेरी बुद्धि से विकल्प साधन नहीं होता, अत: जितना हो सके उतना ही अभ्यास कर, तो तू पापकार्य में तो प्रवीण और इस अभ्यास में कहता है 'मेरी बुद्धि नहीं है'; तो वह तो पापी का लक्षण है। इसप्रकार द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया। अब अन्य विपरीत विचारवालों को समझाते हैं।

शब्द शास्त्रादिक का पक्षपाती कहता है कि—व्याकरण, न्याय, कोश, छंद, अलंकार, काव्यादिक ग्रंथों का अभ्यास किया जाये तो अनेक ग्रंथों का स्वयमेव ज्ञान होता है, वा

पंडितपना प्रगट होता है। और इस शास्त्र के अभ्यास से तो एक इसी का ज्ञान हो या पंडितपना विशेष प्रगट नहीं होगा। अत: शब्द-शास्त्रादिक का अभ्यास करना। अब उसको कहते हैं—

यदि तुम लोक में हो पंडित कहलाना चाहते हो, तो तुम उसी का अभ्यास किया करो। और यदि अपना (हितरूप) कार्य करने की चाह है तो ऐसे जैन ग्रंथों का ही अभ्यास होने पर पंडित मानेंगे, वह कहता है कि—मैं जैन ग्रंथों के विशेष ज्ञान होने के लिये ही व्याकराादिक का अभ्यास करता हूँ। उसको उत्तर—ऐसे है तो भला ही है। किंतु इतना है—जिसप्रकार स्याना किसान अपनी शक्ति अनुसार हलादिक द्वारा अल्प-बहुत खेत को सम्हाल कर समय पर बीज बोवे तो उसे फल की प्राप्ति होती है। उसीप्रकार तुम भी यदि अपनी शक्ति अनुसार व्याकरणादिक के अभ्यास से अल्प और अधिक बुद्धि को सम्हालकर जितने काल मनुष्यपर्याय वा इंद्रियों की प्रबलता इत्यादिक प्रवर्तते हैं, उतने समय में तत्त्वज्ञान के कारण जो शास्त्र, उनका अभ्यास करोगे तो तुम्हें सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होगी।

जैसे अनजान किसान हलादिक से खेत को संवारता ही समय को बितावे तो उसको फल-प्राप्ति होनेवाली नहीं, वृथा ही खेदखिन्न हुआ। उसीप्रकार तू भी यदि व्याकरणादिक द्वारा बुद्धि को संवारता-संवारता ही समय गँवावेगा तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होनेवाली नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होगा। इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प हैं; इसलिये प्रयोजन मात्र अभ्यास करना, शास्त्रों का तो पार है नहीं। सुन! कुछ जीव व्याकरणादिक के बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषाशास्त्रों के द्वारा यह उपदेश सुनकर तथा सीखने से भी तत्त्वज्ञानी होते देखे जाते हैं और कई जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गँवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते हैं, ऐसा भी देखा जाता है। सुन! व्याकरणादिक का अभ्यास करने से पुण्य नहीं होता, किंतु धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य होता है। तथा तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से अतिशय महत् पुण्य उत्पन्न होता है। इसलिये भला तो यह है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना। इसप्रकार शब्द-शास्त्रादिक के पक्षपाती को सन्मुख किया।

अब अर्थ का पक्षपाती कहता है कि—इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है? सर्वकार्य धन से बनते हैं। धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है, धनवान के निकट अनेक पंडित आकर रहते हैं, अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है। अत: धन पैदा करने का उद्यम करना। उसको कहते हैं—

रे पापी !धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो नहीं होता, भाग्य से होता है। ग्रंथाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है। यदि धन होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? अगर नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा ? इसलिये धन का होना, न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है ? सुन ! धन है, वह तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादि का कारण है और जो यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। अत: महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में ही लगते हैं और तू पापी शास्त्राभ्यास को छुड़ाकर धन पैदा करने की बड़ाई करता है तो तू अनंत संसारी है। तूने कहा कि प्रभावनादि धर्म भी धन से ही होता है। किंतु वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित् सावद्यक्रिया संयुक्त है; इसलिये समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है, यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावनादि धर्म-साधन थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में किसलिये लगते हैं ?

शास्त्राभ्यास करने से प्रभावनादिक भी विशेष होती है। तूने कहा कि—धनवान के निकट पंडित भी आ करके रहता है। तो वहाँ तो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो, वहाँ ऐसा होता है और शास्त्राभ्यासवालों की तो इंद्रादिक भी सेवा करते हैं, यहाँ भी बड़े-बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं, इसलिये शास्त्राभ्यास वालों से धनवानों को महंत न जान। तूने कहा कि धन से सर्व कार्यसिद्धि होती है, (किंतु ऐसा नहीं है)उस धन से तो इस लोकसंबंधी कुछ विषयादिक कार्य इसप्रकार के सिद्ध हो जाते हैं, जिससे बहुत काल तक नरकादिक दु:ख सहन करने पड़ते हैं। और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं कि जिससे इसलोक-परलोक में अनेक सुखों की परंपरा प्राप्त होती है, इसलिये धन पैदा करने के विकल्प को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। और जो ऐसा सर्वथा न बने तो संतोषपूर्वक धन पैदा करने का साधन कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना। इसप्रकार धन पैदा करने के पक्षपाती को सन्मुख किया।

अब, काम-भोगादिक का पक्षपाती कहता है कि शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बड़प्पन नहीं है, इसलिये जिनके द्वारा यहाँ ही सुख हो, ऐसे जो स्त्री-सेवन, खाना-पहिनना इत्यादिक विषयसुख, उनका सेवन किया जाये अथवा जिसके द्वारा यहाँ ही बड़प्पन हो, ऐसे विवाहादिक कार्य किये जाये। अब उसको कहते हैं कि—विषयजनित जो सुख है, वह दु:ख

ही है क्योंकि विषयसुख पर-निमित्त से होता है, पूर्व और पश्चात् तुरंत ही आकुलता सहित है, और जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते ही हैं; आगामी नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है...ऐसा होने पर भी वह तेरी चाह अनुसार मिलता ही नहीं, पूर्व पुण्य से होता है, इसलिये विषम है। जैसे खाज से पीड़ित पुरुष अपने अंग को कठोर वस्तु से खुजाते हैं, वैसे ही इंद्रियों से पीड़ित जीव उनकी पीड़ा सही न जाये तो किंचित्मात्र जिनमें पीड़ा का प्रतिकार सा भासे, ऐसे जो विषयसुख, उनमें झंपापात करते हैं, वह परमार्थ का सुख है नहीं; और शास्त्राभ्यास करने से उत्पन्न आनंद, वह सच्चा सुख है, जिससे वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, विषम नहीं है। जिसप्रकार खाज की पीड़ा नहीं होती तो सहज ही सुखी होता है, उसीप्रकार वहाँ इंद्रिय पीड़ने के लिये समर्थ नहीं होती, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है। इसलिये विषयसुख को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना; यदि सर्वथा न छूटे तो जितना हो सके, उतना छोड़कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना। तेने विवाहादिक कार्य में बड़ाई होना कही, वही कितने दिन बड़ाई रहेगी ? वह बड़ाई जिसके लिये महापापारंभ से नरकादि में बहुत काल दु:ख भोगना होगा; अथवा तुझसे भी उन कार्यों में धन लगानेवाले बहुत हैं। अत: विशेष बड़ाई भी होनेवाली नहीं है और शास्त्राभ्यास से तो ऐसी बड़ाई होती है कि जिनकी सर्वजन महिमा करते हैं। इंद्रादिक भी प्रशंसा करते हैं और परंपरा भी स्वर्ग-मुक्ति का कारण है। इसलिये विवाहादिक कार्यों का विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना। सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प न करना। इसप्रकार काम-भोगादिक के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास में सन्मुख किया।

इसप्रकार अन्य भी जो विपरीत विचार से इस ग्रंथ के अभ्यास में अरुचि प्रगट करते हैं, उनको यथार्थ विचार से इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख होना योग्य है।

यहाँ अन्यमती कहते हैं कि तुमने अपने ही शास्त्र के अभ्यास करने का दृढ़ किया, हमारे मत में नाना युक्ति आदि सहित शास्त्र हैं, उनका भी अभ्यास क्यों न कराया जाये ? उनको कहते हैं—

तुम्हारे मत के शास्त्रों में आत्महित का उपदेश नहीं। कहीं शृंगार का, कहीं युद्ध का, कहीं काम सेवन आदि का, कहीं हिंसादिक का कथन है और यह तो बिना ही उपदेश सहज ही हो रहा है। अत: इनको तजने से हित होता है। अन्यमत तो उल्टा उनका पोषण करता है,

इसलिये उससे हित कैसे होगा ? वहाँ वह कहते हैं कि ईश्वर ने ऐसी लीला की है, उसको गाते हैं तो उससे भला होता है। वहाँ कहते हैं कि ईश्वर के सहज सुख न होगा, तब संसारीवत् लीला से सुख हुआ। जो वह सहज सुखी होता तो किसलिये विषयादि सेवन वा युद्धादि करता ? मंदबुद्धि भी बिना प्रयोजन किंचित्मात्र भी कार्य नहीं करते। इसलिये जाना जाता है कि वह ईश्वर हम जैसा ही है। उसका यश गाने से क्या सिद्धि होगी ? और वह कहता है कि हमारे शास्त्रों में त्याग, वैराग्य, अहिंसादिक का भी उपदेश है। उसका उत्तर—वह उपदेश पूर्वापर विरोध सहित है। कहीं विषय पोषते हैं, कहीं निषेध करते हैं; कहीं वैराग्य दिखाकर पश्चात् हिंसादिक का करना पुष्ट किया है। वहाँ वातुल वचनवत् प्रमाण कहाँ ? तथा वह कहते हैं कि वेदांत आदि शास्त्रों में तो तत्त्व का ही निरूपण है। उनको कहते हैं—नहीं; वह निरूपण प्रमाण से बाधित है, अयथार्थ है, उसका निराकरण जैन के न्यायशास्त्रों में किया है सो जानना। इसलिये अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास न करना। इसप्रकार जीवों को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया। उनको कहते हैं—

हे भव्य हो! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द या अर्थ का वांचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारंबार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं—वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना। यदि सर्वशास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम या दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है, वहाँ जिसका बने उस ही का अभ्यास करना। परंतु अभ्यास में आलसी न होना। देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परंपरा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, मोक्षमार्गरूप फल को प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं—क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है, पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है, अति चंचल मन भी एकाग्र होता है, हिंसादि पाँच पाप नहीं होते, स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है, हेय-उपादेय की पहचान होती है, आत्मज्ञान सन्मुख होता है, अधिक-अधिक ज्ञान उत्पन्न होता है, आनंद उत्पन्न होता है, लोक में महिमा यश विशेष होता है, अतिशय पुण्य का बंध होता है, इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल उत्पन्न होते हैं, इसलिये शास्त्राभ्यास अवश्य करना। तथा हे भव्य हो! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है। कैसे ? यह कहते हैं—

एकेन्द्रियादि असंज्ञीपर्यंत जीवों को तो मन नहीं, और नारकी वेदना से पीड़ित, तिर्यंच विवेकरहित, देव विषयासक्त, इसलिये मनुष्यों के अनेक सामग्री मिलकर शास्त्राभ्यास होता है। वह मनुष्य-पर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महा दुर्लभ है।

वहाँ द्रव्य से तो लोक में मनुष्य जीव बहुत अल्प हैं, तुच्छ संख्यात मात्र ही हैं; और अन्य जीवों में निगोदिया अनंत हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं। तथा क्षेत्र से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत स्तोक (थोड़ा ही) अढ़ाई द्वीप मात्र ही है और अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्व लोक है, दूसरों का कितनेक राजू प्रमाण है। और काल से मनुष्यपर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल स्तोक है, कर्मभूमि-अपेक्षा पृथक्त्व कोटिपूर्व मात्र है और अन्य पर्यायों में उत्कृष्ट रहने का काल—एकेन्द्रिय में तो असंख्यात पुद्गलपरावर्तन मात्र और अन्यों में संख्यात पल्य मात्र है। भाव-अपेक्षा तीव्र शुभाशुभपने से रहित ऐसे मनुष्य-पर्याय के कारणरूप परिणाम होने अति दुर्लभ हैं, अन्य पर्याय के कारण अशुभरूप वा शुभरूप परिणाम होने सुलभ हैं। इसप्रकार शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याय, कर्मभूमि या मनुष्य पर्याय, उसका दुर्लभपना जानना। वहाँ सुवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इंद्रियों की सामर्थ्य, नीरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादिक की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महा दुर्लभ है, यह प्रत्यक्ष दीख रहा है; और उतनी सामग्री मिले बिना ग्रंथाभ्यास बनता नहीं, सो तुमने भाग्य से अवसर पाया है; इसलिये हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरणा करते हैं। जैसे हो सके, वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो, अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ। जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना, वा पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करनी इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्य कारण, उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परंपरा कार्यसिद्धि होती है वा महत् पुण्य उत्पन्न होता है। इसप्रकार इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया।

# धर्म

**देशयामि समीचीनं धर्मकर्म निवर्हणम्।**
**संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥** (रत्न० श्रा०)

**अर्थः**—मैं (समंतभद्राचार्य) ग्रंथकर्ता उसी धर्म का उपदेश करता हूँ, जो प्राणियों को पंच परावर्तनरूप संसार के दुःखों से बचाकर स्वर्ग-मोक्ष के निर्बाध, उत्तम सुख में धारण करे। वह धर्म कैसा है ? जिसमें वादी-प्रतिवादी तथा प्रत्यक्ष-अनुमान आदि के द्वारा बाधा नहीं है, कर्मबंध को नष्ट करनेवाला है, उसी धर्म को कहता हूँ।

**भावार्थः**—संसार में 'धर्म' ऐसा नाम तो सब लोग कहते हैं, किंतु धर्म शब्द का अर्थ तो ऐसा है जो नारक, तिर्यंचादि गतियों में परिभ्रमणरूप दुःखों से आत्मा को छुड़ाकर उत्तम आत्मिक अविनाशी अतीन्द्रिय मोक्षसुख में धारण करे।

ऐसा धर्म बिकता नहीं जो धन देकर या दान-सन्मान आदि से प्राप्त किया जाये तथा किसी से दिया जाता नहीं जो किसी की उपासना से प्रसन्न करके ले सके, तथा मंदिर, पर्वत, जल, अग्नि, देव, मूर्ति, तीर्थादि में धर्म को रख दिया नहीं है कि वहाँ जाकर ले आवे, उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तप में शरीरादि कृष करने से भी मिलता नहीं।

ऐसा भी नहीं है जो देवाधिदेव तीर्थंकर के मंदिरों से तथा उनमें उपकरण, दान, मंडल विधान पूजा आदि से, तथा घर छोड़कर वन-स्मशान में निवास करने से, तथा परमेश्वर के नाम जाप आदि से भी आत्मधर्म मिल सके। कारण कि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। अतः पर में आत्मबुद्धि को छोड़कर अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव द्वारा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण, वह 'धर्म' है।

उत्तम क्षमादि दस लक्षणरूप अपने आत्मा का परिणमन, रत्नत्रयरूप वीतरागभाव, मिथ्यात्व-रागादि की उत्पत्ति रहित ऐसी जीवों की दयारूप आत्मा की परिणति हो, तब यह आत्मा स्वयं धर्मरूप होगा। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल आदि तो निमित्तमात्र हैं। जब यह आत्मा मिथ्यात्व, रागादिरूप परिणति छोड़ वीतरागरूप होता है, तब मंदिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप,

जप सभी धर्म हैं और यदि आत्मा उत्तम क्षमादि वीतरागरूप-सम्यग्दर्शनरूप न हुआ तो कहीं भी किंचित् धर्म नहीं होता।

यदि शुभराग हो तो पुण्य-बंधन होता है, अशुभराग हो तो पाप-बंधन होता है। जहाँ शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणरूप धर्म है, वहाँ बंध का अभाव है; बंध का अभाव होने से उत्तम सुख होता है। ऐसा धर्म सर्वज्ञ वीतराग ने कहा है।

*( रत्नकरण्ड श्रावकाचार से )*

## ज्ञान तथा राग दोनों भिन्न होने से भिन्नता का अनुभव सुगम है

जीव का स्वरूप चिद्रूप है, राग से भिन्न है। राग से भिन्न है, इसलिये उसका अनुभव करना सरल है। अपना स्वरूप ऐसा भिन्न होते हुए भी आश्चर्य है कि जीव उसको राग के साथ एकरूप अनुभव करता है। शुद्धता का अनुभव तो अपने स्वभाव की वस्तु है, इसलिये वह सहज है-सरल है; किंतु भ्रम से अशुद्ध परिणमनरूप ही जीव अपना अनुभव करता है। वह अनुभव सहज नहीं, स्वभाव का नहीं किंतु दृष्टिदोष के कारण ऐसा अशुद्ध स्वरूप ही देखता है तथा उसीसमय शुद्धस्वरूप विद्यमान होते हुए भी उसको नहीं देखता। शुद्धज्ञानस्वरूप तथा राग, इन दोनों में तो महान अंतर है, दोनों में एकता नहीं है, फिर भी भ्रम से अज्ञानी उनको एकरूप अनुभव करता है, तथापि आजतक वे एकरूप हुए नहीं; इसलिये दोनों की भिन्नता का अनुभव करना सरल है। (—प्रवचन से)

# कानातलाव ( सौराष्ट्र ) में वेदी प्रतिष्ठा-महोत्सव

दिगम्बर जैन धर्म में गाढ़ रुचि रखनेवाले किसान भाईयों का एक छोटा गाँव है। आज वैशाख वदी ५ को गाँव में पूज्य श्री कानजीस्वामी पधार रहे हैं। आसपास के जिज्ञासुगण स्वागत करने एकत्र हुए थे। अनेक गाँवों से जिनबिम्बवेदी-प्रतिष्ठामहोत्सव में भाग लेने आये थे। मंगल कलश सहित ८१ बालिकायें तथा धर्मध्वज से सुशोभित हाथी एवं गाँव की भजन-मंडली ने भी स्वामीजी का स्वागत किया। जुलूस प्रतिष्ठा-विधि-मंडप में आया, जिनेन्द्र-दर्शन के पश्चात् सभा में स्वागत-गीत हुआ, स्वामीजी ने मांगलिक सुनाकर उपदेश में कहा है कि इस देह में देह से भिन्न रहा हुआ सच्चिदानंदस्वरूप आत्मा है, वह मंगल है। ऐसे आत्मा का भान किये बिना जीव चार गति में रुलते हैं। अंदर आनंदस्वरूप आत्मा का भान करने से दु:ख का नाश तथा सुख की उत्पत्ति होती है, वही मंगल है। अनंत काल से ऐसे आत्मा का अवलोकन नहीं किया। ऐसे ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा को देखने से अपूर्व शांति और आनंद होता है। वह मंगल है। इसप्रकार जानकर अंतर्मुख होने से स्वयं भगवान होता है। वीतराग विज्ञान के स्मरणार्थ शुद्धात्मा का ही आदर-आश्रय करनेयोग्य है; ऐसी रुचि करने के लिये वीतराग भगवान की यहाँ प्रतिष्ठा होती है।

वास्तव में भगवान आत्मा अंदर में ही विराजमान है, उसे श्रद्धा में-ज्ञान में स्थापन करके उनके दर्शन करने से चारों गति के भव-भ्रमण और दु:ख नष्ट होकर स्वयं सुखरूप होता है। 'प्रभु' तो अपने पास अंतर में ही विराज रहा है, किंतु पर की ममता की ओट में अपना प्रभु दिखता ही नहीं। अब हे जीव! मनुष्यपना और सत्समागम मिला है, उसमें सर्वज्ञ वीतराग भगवान कथित अपने आत्मा की पहचान कर। अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदमय आत्मा की पहचान महान मांगलिक है।

प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रारंभ में जैन झंडारोपण हुआ, प्रतिष्ठा-मंडप में श्रीजी विराजमान किये गये। बाहर गाँव से अच्छी संख्या में साधर्मीगण तथा जैनेतर बंधु एकत्र हुए थे, दो हजार संख्या में श्रोतागण सभा में बड़ी रुचि से सुनते थे। समयसारजी शास्त्र पर प्रवचन में देहातीतस्वरूप आत्मा कैसा है, और कैसे प्राप्त हो, वह समझाते थे, हजारों कृषिकार बंध भी शुद्धात्मा की बात बड़ी उत्सुकता से प्रेमसहित सुनते थे।

अरहंत और सिद्ध परमात्मा अतीन्द्रियज्ञान और सुख से पूर्ण हैं, प्रगट दशा में वे परमात्मा हैं और ऐसा ही प्रत्येक आत्मा (जीव) का असली स्वरूप है। ऐसे तत्त्व का अपने

आत्मा में स्वीकार हुआ; अब आत्मा के स्वरूप की साधना किसप्रकार हो ?—यह बात राजा का दृष्टांत देकर समयसार, गाथा १७-१८ द्वारा समझाते हैं।

दो हजार वर्ष पूर्व (मद्रास के पास ८० मील दूर पोन्नूर पर्वत है वहाँ) वीतरागी निर्ग्रंथ मुनिराज दिगम्बर संत श्री कुन्दकुन्दाचार्य रहते थे। चारणऋद्धि द्वारा देहसहित विदेहक्षेत्र में जहाँ साक्षात् परमात्मा श्री सीमंधर भगवान समवसरण में विराजमान हैं, वहाँ गये थे। दिव्य वाणी ८ दिन तक सुनकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य भरतक्षेत्र में वापिस आये थे। आपको आत्मानुभव का प्रचुर संवेदन था, महान निर्मलतर ज्ञान के धारक थे। आपने यह समयसारजी नामक परमागम शास्त्र बनाया है।

आत्मा के गुणों में जो बड़ा हो, वही सच्चा सेठ (श्रेष्ठ) है। जो परवस्तु से बड़प्पन चाहता है, वह पामर है, तुच्छ है। संसार-धनादि या स्वर्गादि की तृष्णा है, वह तो भिखारी है। यहाँ तो जिसे संसार की कोई चाह नहीं। जो मोक्षसुख की ही रुचि रखता है, ऐसे मुमुक्षु जीव को आत्मा की सेवा किसप्रकार करनी वह बतलाते हैं।

[प्रवचन के पश्चात् पंचपरमेष्ठी भगवान के पूजन की विधि चली। वदी ६ को गाँव के अग्रणी सौ. मुक्ता बहिन वल्लभभाई पटेल के हस्त से मंगल-कलश की स्थापना हुई। इन्द्र-प्रतिष्ठा का जुलूस निकला। छोटे से गाँव में हाथी सहित बड़ा जुलूस देखकर लोग जिनेन्द्र धर्म के प्रति महिमा लाकर आश्चर्य का अनुभव कर रहे थे। यागमंडल विधान हुआ। यहाँ किसान बंधुओं में अच्छा विकास है, सब संपन्न हैं, लौकिक हिंसा-अहिंसा में समझते हैं, हिंसा होने पर दु:ख मानते हैं, सब मेहमानों के सत्कार सेवा में तत्पर थे।]

स्वामीजी सुगम शैली से समझा रहे थे। देह से भिन्न पुण्य-पाप से भिन्न ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा ही साध्य आत्मा की सिद्धि है। अन्य प्रकार सिद्धि नहीं होती; अत: विकल्पों से बस हो, विकल्पों से पार जो चैतन्यस्वभावी आत्मा है, उसे निर्विकल्प होकर जानना अर्थात् अनुभव करना, उसकी श्रद्धा करके उसमें ही—अपने ज्ञानस्वरूप में ही एकाग्रतारूप अनुचरण करना मोक्ष का उपाय है।

प्रथम से ही आत्मा को जानने की बात कही है। यह 'जानना' उसमें विकल्प नहीं है, विकल्प से भिन्न हुए ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। अर्थात् स्वानुभवरूप ज्ञान द्वारा-स्वसन्मुख ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा को जानना अर्थात् अनुभव करना। विकल्प द्वारा आत्मा ज्ञात होता ही नहीं। प्रथम सविकल्प ज्ञान द्वारा निर्णय किया जाता है, पश्चात् अंदर में अनुभव

होता है। इसप्रकार बीच में भेद-विकल्प की बात नहीं है। विकल्प होते हैं किंतु वह कुछ साधन नहीं हैं। सीधे ज्ञान से आत्मा को जान में अंगीकार करना, वही आत्मा को साधने की रीति है, वही मोक्ष का उपाय है।

यह मनुष्य भव का मिलना तब सार्थक समझा जाये, जब आत्मा का ज्ञान-अनुभव करके भव के अभाव का उपाय करे। यह मनुष्यपना मिलना बहुत महंगा है। कैसा महंगा है? कि जैसे विश्व में सबसे बड़ा महासागर स्वयंभूमरण है; जो गोल चूड़ी के आकार का और सर्व तरफ असंख्य महायोजन का है। बैलगाड़ी का जुआं और उसमें डाली जानेवाली लकड़ी की सैल को अलग-अलग करके विरुद्ध दिशाओं में डाला जाये और दोनों कालांतर में इकट्ठे होकर जुड़ जायें, (ऐसा बन जाना बड़ा दुर्लभ है) उसीप्रकार इस संसार-समुद्र में भ्रमण करते जीव को मनुष्यपना मिलना इससे भी दुर्लभ है।

ऐसा मनुष्यत्व प्राप्त होने के पश्चात् भी संसार के पाप के पचड़े में मूढ़ जीव उसे व्यर्थ गवाँ देता है। जिसप्रकार अंधा मनुष्य नगरी में जाने के लिये गढ़ को हाथ लगाकर चक्कर काट रहा हो, किंतु जहाँ अंदर जाने का प्रवेश द्वारा आता है। वहाँ प्रमादी होकर अन्य कार्यों में समय-शक्ति-उत्साह गवां देता है, इसलिये नगरी में प्रवेश नहीं कर सकता। सब समय व्यर्थ ही जाता है, उसीप्रकार मनुष्य होकर आत्मा का समझकर मोक्ष में जाने का अवसर आता है, तब भी मूर्ख जीव मिथ्यावासना-विषय-कषाय में पुण्य-पाप में ही जीवन गवांकर फिर भी चार गति में ही रुलता है। श्रीगुरु उसे समझाते हैं कि भैया! ऐसा मानवपना पाकर, उपयोगस्वरूप आत्मा को तू शीघ्र पहचान।

वैशाख वदी ७ को जलयात्रा, वेदी ध्वज दंड कलशों की शुद्धि, रात्रि को भक्ति-भजन। वैशाख वदी ८ सवेरे जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवंतों की मंगल स्थापना हुई। प्रतिष्ठा पचात् शान्तियज्ञ, रथयात्रा, उत्सव में सर्वत्र जैनधर्म की जयजयकार हो रही थी। जिस स्थान पर प्रथम एक भी जैन घर नहीं था, ऐसे गाँव में श्री कहानगुरु के प्रताप से अनेक जैन भक्त गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर जाति आदि का भय छोड़कर, प्रगट जिनेन्द्रदेव के भक्त बने और जिनेन्द्र भगवान के भव्य मंदिर का निर्माण किया, जिसकी मंगल-प्रतिष्ठा का उत्सव पूर्ण हुआ। अत: कानातलाव के मुमुक्षुओं को धन्यवाद!

सौ. चंदनबहिन (धर्मपत्नी श्री चिमनलाल ताराचंद) जिन्होंने उन देहाती जिज्ञासुओं को पूज्य स्वामीजी के उपदेश द्वारा जैन तत्त्वज्ञान बतलाया था, उनको भी धन्यवाद!

# भेदविज्ञान पहला सुख है

**( श्री समयसार गाथा ७४ पर जलगाँव में पूज्य स्वामीजी के फाल्गुन शुक्ला ३ से ८ के प्रवचनों से )**

## दु:ख से छूटने के लिये कैसा भेदज्ञान करें ?

आत्मा अनादि काल से परमार्थत: ज्ञान-आनन्दस्वरूप वस्तु है; वह अपने चैतन्य तत्त्व को भूलकर संसार में रुलता है। उसे लक्ष्मी आदि का संयोग अनंत बार मिला किंतु अपनी चैतन्यलक्ष्मी क्या है, उसे कभी नहीं जाना।

मनुष्यपना प्राप्त होना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का योग मिलना तथा जैनधर्म का श्रवण मिलना बहुत महंगा है। भगवान की धर्मसभा में धर्म श्रवण करने के लिये स्वर्गलोक में से इन्द्र और देव भी आते हैं; तो वह धर्मकथा कैसी होगी ! अत: उस धर्म श्रवण के लिये वस्तुस्वरूप का बहुमान उत्साह चाहिये। सीमन्धर परमात्मा आदि तीर्थंकर आज भी मनुष्य लोक में विदेहक्षेत्र में विराजमान हैं और आत्मा के पवित्रस्वरूप की धर्मकथा सुनाते हैं, इन्द्र और चक्रवर्ती भक्तिपूर्वक श्रवण करते हैं। भगवान ने जो उपदेश दिया, वही इस समयसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समझाया है।

भैया ! पुण्य-पाप और धर्म भिन्न-भिन्न हैं। तेरे आत्मा का सत्य स्वरूप क्या है ? उसे ही प्रथम पहचान। शरीर, पैसा यह तो जड़ है, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी तेरा असली स्वरूप नहीं है; भेदज्ञान द्वारा उनसे पार होकर आनंदस्वरूप आत्मा का वेदन हो, वह धर्म है। प्रारंभ से ही ऐसे स्वरूप की पहचान करना, वही दु:ख से छूटने का रास्ता है। परमात्मा ने दु:ख से छूटने का ऐसा उपाय बतलाया है। स्वयं ऐसा रास्ता लिया और जगत को भी वही मार्ग बतलाया है, उनका यह वर्णन है।

सुख कहो या धर्म कहो। धर्म सूक्ष्म है, शुभराग करना, वह तो स्थूल है; अज्ञानी को भी वह सुगम है, परिचित है; किंतु राग से पार ऐसा सूक्ष्म धर्म क्या है ? उसका पता नहीं। पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहचान यदि एक क्षण भी करे तो अनंत काल के भव चक्र

का अंत हो जावे – अति अल्प काल में मुक्त हो जाये। ऐसा भेदज्ञान करना, यह धर्म की मुख्य वस्तु है।

जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, पूजा आदि शुभभाव श्रावकों को आते अवश्य हैं, किंतु वह शुभराग आस्रव-संसार का रूप है, कुछ ज्ञानस्वरूप नहीं है। कारण कि वह ज्ञान से भिन्न होने से मोक्ष का कारण नहीं हो सकते। मोक्ष का कारण तो रागरहित ऐसी स्वाश्रित ज्ञानक्रिया ही है। ऐसे ज्ञान के द्वारा अपूर्व आत्मबोध आठ वर्ष के बालक का आत्मा भी प्राप्त कर सकता है। इसप्रकार का आत्मबोध प्राप्त किये बिना कभी जन्म-मरण के दुःख मिटते नहीं।

जीव ने पुण्य-पाप दोनों भाव अनंत बार किये हैं, अनादि काल से वही काम किया है। जड़ का काम कभी किया नहीं और पुण्य-पाप से पार ऐसा ज्ञान का काम क्या है, वह कभी जाना नहीं। भाई, पुण्य-पाप के भाव तो तेरे ज्ञान से विरुद्ध हैं—ज्ञान के पोषक नहीं हैं किंतु घातक हैं। ज्ञान का स्वभाव तो शांत अनाकुल है। उसके वेदन से सम्यग्दर्शन और आनंद होता है। धर्म की इस रीति को पहचाने भी नहीं और जड़ देहादि तथा राग को ही अपना स्वरूप मान रहा है, तब तक उस जीव को धर्म कहाँ से होगा? राग को अपना माने-भला माने, वह राग करने की भावना क्यों छोड़े? जब अपने त्रैकालिक अरागी परम महिमावंत पूर्णज्ञानस्वरूप का ग्रहण करे और ज्ञान और राग की भिन्नता जानकर भेदज्ञान करे, तब ज्ञान में तन्मय होकर राग से जुदा हो सकता है। इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा ही आत्मा आस्रवों से अर्थात् दुःख से छूटता है। दूसरा कोई उपाय दुःख से छूटने का नहीं।

नरकगति की अपेक्षा स्वर्ग में जानेवाले जीवों की संख्या अधिक है; इससे भी अनंतगुने भव पशु के (तिर्यंच के) किये, परंतु मनुष्यपना बड़ा दुर्लभ है; बहुत कम संख्या में मनुष्यभव मिलते हैं, फिर भी अनंत बार किये हैं। ऐसा मानव भव पाकर उसमें सर्वज्ञ परमेश्वर जैसे अपने आत्मा की पहचान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह धर्म का मूल है।

अब ऐसा आत्मकल्याण करने का अवसर मिला है, तो उसमें अपना हित कैसे हो, उसका विचार कर। बाह्य की स्पर्धा छोड़। संयोग और जगत की रचना कोई शरण नहीं है। जैसे सर्वज्ञ भगवान हैं, ऐसा ही पूर्णस्वभावी सर्वज्ञस्वभाव का वैभव मेरे में भरा है—इसप्रकार निजनिधान का विश्वास कर, तो अपूर्व शांति मिलेगी। यह आत्मा जब अपने पूर्ण स्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता द्वारा शक्तिरूप सर्वज्ञपद प्रगट करता है, तब इसी आत्मा को ईश्वर-

परमेश्वर-परमात्मा कहा जाता है अर्थात् अपने सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की उपासना (पहचान और एकाग्रता) वह परमेश्वर की सच्ची उपासना है। ऐसे परमेश्वर की पहचान के बिना सत्यार्थ ईश्वरोपासना नहीं हो सकती।

आत्मा जब सर्वज्ञ परमेश्वर होता है, तब उसे जरा भी राग नहीं रहता। अरे, साधकदशा में जब ६-७ वें गुणस्थान की भूमिका अर्थात् जैन मुनिपद होता है, तब वस्त्रादि बाह्य परिग्रह नहीं होता। सातवें गुणस्थान से कहीं भी भोजन-खुराक नहीं है। सर्वज्ञ तो वीतराग हैं, एक समय में पूर्ण आनंद के अनुभवसहित तीन काल-तीन लोक को जानते हैं, ऐसे परमात्मा की पहचानपूर्वक उनकी मूर्ति की स्थापना पूजा बहुमान, वह ईश्वर की व्यवहार-उपासना है; 'जिनपद निजपद एकता भेदभाव नहीं कांई' इसप्रकार सर्वज्ञ समान अपने को जानकर अंतरंग पूर्ण शक्ति में एकाग्रतारूप उपासना, वह ईश्वर की परमार्थ उपासना है, जो स्वयं ईश्वर होने का (मोक्ष का) उपाय है।

हे जीव! देव-गुरु की सच्ची सेवा-उपासना करनी हो तो उनके समान अपने आत्मा को पहचानकर तू भी उन जैसा बन जा। वीतराग होकर वीतरागदेव की सच्ची उपासना होती है। प्रथम श्रद्धा-स्वामित्व की दृष्टि से सच्चा बनना चाहिये। पश्चात् चारित्र में तो क्रमशः बलवान होता है; किंतु अकेले राग में रहकर वीतराग देव की सच्ची उपासना नहीं होती। राग और ज्ञान की भिन्नता का ज्ञान करना वीतरागमार्ग की प्रथम उपासना है।

जगत् में जीव-अजीव अनंत हैं; प्रत्येक जीव और अजीव सदा स्वतंत्र तत्त्व है, अपना कार्य वे स्वतंत्ररूप से करते रहते हैं। ऐसा न मानकर कोई ऐसा मान ले कि मैं उनके कार्य को कर सकता हूँ तो वह अनंत सत्तात्मक पदार्थों को और उनके स्वतंत्र अस्तित्व को मानता ही नहीं अर्थात् उसकी मान्यता में अनंत विपरीतता है।

अब, जीवादि छह जाति के द्रव्यों को तो जाने किंतु आत्मा को न पहचाने, अपने आत्मा का शुद्धस्वभाव सदा रागादि से भिन्न है, ऐसा अखंड ज्ञानस्वभाव है, उसका अनुभव न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पुण्य-पाप दोनों भावों में आकुलता है; दोनों परोन्मुख हैं। दोनों चैतन्य से जुदी जाति के हैं; अचेतन हैं। पुण्य-पाप-शुभाशुभभावों से भिन्न चैतन्य वस्तु है; उसमें अनाकुल सुख है, जब ऐसा भेदविज्ञान करे, तभी अज्ञानमय आस्रव से छूटकर जीव को ज्ञानमय संवरदशा अर्थात् धर्म

होता है। भूमिकानुसार शुभभाव होता है अवश्य, किंतु वह कहीं धर्मरूप नहीं है, ज्ञानरूप नहीं है। इसप्रकार राग से भिन्न ज्ञान-चेतना को जीव ने कभी अनुभव नहीं किया। पाप-राग में तो आकुलता है; पुण्य का जो शुभराग है, वह भी आकुलता की जाति है, ज्ञान की जाति नहीं है। ज्ञान की जाति तो निराकुल आनंदस्वरूप है। जिसमें आनंद का सेवन न हो, वह ज्ञान नहीं।

श्री पंच परमेष्ठी भगवान के प्रति अनादरभाव, हिंसक वृत्ति, माँसभक्षण आदि तीव्र पापभाव तो महा दु:खरूप हैं, उनसे पापकर्म का आस्रव होता है, भविष्य में उस ओर का झुकाव दु:ख का ही कारण होगा। पंच परमेष्ठी भगवंतों के प्रति आदरभाव, दया, दान, पूजा आदि के शुभभाव भी आस्रवतत्त्व होने से उस शुभ में भी वर्तमान आकुलता है तथा उनके द्वारा जो पुण्यकर्म का आस्रव होता है, वह पराश्रय भविष्य में भी आकुलता ही उत्पन्न करेगा, अत: आस्रव भविष्य काल में भी दु:ख के ही कारण हैं। पुण्य का फल तथा उस ओर की वृत्ति आत्मा को सुख का या सम्यग्दर्शन आदि का कारण नहीं हो सकता। पुण्य-पाप की वृत्ति आकुलता ही है, उसमें निराकुलतालक्षण सुख या शांति नहीं है। आत्मा का ज्ञान जो पराश्रयरहित है, पुण्य-पापरहित है, वह सुखरूप है और उस ज्ञानभाव के द्वारा कोई भी शुभाशुभ कर्म बँधता ही नहीं; अत: भविष्य काल में भी वह सुख का ही कारण है। ज्ञानभाव कभी दु:ख का कारण नहीं है, रागभाव कभी सुख का कारण नहीं है। इसप्रकार ज्ञान और राग की अत्यंत भिन्नता जानकर जीव ज्यों-ज्यों ज्ञानभावरूप से परिणमित होता है, त्यों-त्यों वह आस्रव से छूटता है और ज्यों-ज्यों आस्रव छूटते हैं, त्यों-त्यों वह विज्ञानघन होता है। ऐसा भेदज्ञान वही पहला सुख है।

वर्तमान में पुण्य किया जाये, पुण्यबंध हो जाये तो उससे भगवान के समवसरण आदि का सुयोग मिलेगा, तब धर्म की प्राप्ति होगी—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि—भाई, जब तक तेरी वृत्ति पुण्य के फल में लगी रहेगी, तब तक किंचित् भला होनेवाला नहीं, इसलिये समस्त बाह्यभावों से भिन्न ऐसे अंतर के ज्ञानस्वभाव में दृष्टि लगा। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय और उसमें एकाग्रता करने से ही धर्म का प्रारंभ होता है। परोन्मुखता में-भले ही भगवान का लक्ष हो... परंतु उससे धर्म नहीं होता। अज्ञानी तो वास्तव में देव-गुरु की सेवा करना जानते ही नहीं। शरीर-वाणी, यह कोई देव-गुरु नहीं हैं, यह तो पुद्गल की रचना है; शुभाशुभराग आस्रवतत्त्व है, जो बंध का ही कारण है और पर से तथा राग से भिन्न आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदरूप है; उसकी यथार्थ प्रतीति ही देव-गुरु की सच्ची उपासना (सेवा)

है। ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदस्वरूप आत्मा को लक्ष में लिया जाये, वहाँ ज्ञान राग से भिन्न होकर अंतरंग शुद्धस्वभावोन्मुख होता है अर्थात् अपने में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है; वही वीतरागी देव-गुरु की सच्ची उपासना है, वही मोक्षमार्ग है, और वही भवदु:ख से छूटने का उपाय है। ऐसी दशा प्रगट करे, तब जीव धर्मी कहा जाता है। चैतन्यप्रभु का जिसे प्रेम हो, वह उससे विरुद्ध ऐसे रागादि का प्रेमी क्यों होगा ? धर्मी को अपने आत्मा के सिवा अन्य कुछ भी प्रिय नहीं। ऐसे आत्मा का स्वरूप जानकर परभावों से उसकी भिन्नता का भेदज्ञान करना ही दु:ख से छूटने का उपाय है।

## चैतन्यमेरु आत्मा

शुद्धता के मेरु पर्वत जैसा यह चैतन्यस्वभाव है, इसमें कहीं भी विकार भरा हुआ नहीं है। असंख्य प्रदेशी आत्मा अचल मेरु है, वह चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी निजस्वरूप से चलित नहीं होता, उसके गुण का एक अंश भी चलित नहीं होता, नष्ट नहीं होता। जिसप्रकार मेरुपर्वत ऐसा स्थिर है कि चाहे जैसे झंझावात में भी चलायमान नहीं होता, उसीप्रकार चैतन्यमेरु आत्मा निजस्वभाव में ऐसा अडोल है कि प्रतिकूलता की आँधी उसे चलित नहीं कर सकती, इसका कोई भी गुण या परिणति नष्ट नहीं होती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करनेवाला धर्मात्मा प्रतिकूल संयोग के चक्रव्यूह के बीच भी स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से चलित नहीं होते। वह नि:शंक जानते हैं कि मैं तो ज्ञान हूँ।

## आत्मा को जागृत करके

# सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये

शुद्धनय द्वारा शुद्ध आत्मा के आश्रय से अंदर से आत्मिक-आनंद की झंकार आती है अर्थात् अनुभव होता है, वह सम्यग्दर्शन है। प्रभु! तू अपने घर में प्रवेश करके आत्मा की पहिचानरूप ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

(समयसार, गाथा २७६-२७७ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से)

मोक्ष के कारणरूप जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे अपने शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही हैं, इन शास्त्र आदि पर के आश्रय से नहीं हैं। शास्त्र की तरफ का झुकाव, वह पराश्रय है, ऐसे पराश्रयवाले ज्ञान से आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। इसलिये यह पराश्रय छोड़ने लायक है और शुद्धात्मा का आश्रय करना योग्य है।

जिसप्रकार सूर्य प्रकाश का पुंज है, प्रकाश के लिये उसको दूसरे के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, उसीप्रकार आत्मा स्वयं चैतन्य का पुंज है, उसको ज्ञान-प्रकाश में पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं। अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर पर के आश्रय की बुद्धि से जीव चार गति के दु:खों में भ्रमण करता है। अपने स्वभाव के आश्रयरूप धर्म का उसने एक क्षण भी सेवन नहीं किया।

कल्याण के लिये क्या करना? कि आत्मा के सन्मुख होकर आत्मा का सच्चा ज्ञान करना। पर के संग से रहित ऐसे असंग चैतन्यस्वभाव का स्पर्श करके अनुभव करके जो ज्ञान होता है, वही हितकर-सुखकर ज्ञान है। आत्मा कहीं संयोग जितना ही नहीं है, वह तो सदाकाल-नित्यस्थायी रहनेवाला है। पूर्वभव का शरीर त्याग करके इस शरीर में आया, इस शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप नित्य ही है। ऐसे स्वभाव का ज्ञान करके उसके अंदर निवास करना, वह निजघर का सच्चा प्रवेश है। भाई, तेरे निजघर में ऐसी कौन-सी कमी है—अपूर्णता है जो बाहर से लाना पड़े? तेरे ज्ञान-आनंदादि तेरे में ही परिपूर्ण हैं, उनमें पर्याय को एकाग्र

करने से वे प्रगट होते हैं। नवतत्त्व के विकल्प के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, परजीवों की दया इत्यादि शुभभावों के आश्रय से सम्यक्चारित्र नहीं होता; यह तो सभी पराश्रय भाव ही हैं, यह बंध का कारण हैं। मोक्ष का कारण तो शुद्ध आत्मा के स्वाश्रय से ही है। ऐसे निजघर में जो प्रवेश नहीं करता और परघर में ही भटक रहा है, उसको स्वाश्रयरूप मोक्षमार्ग वीतरागी संतों ने समझाया है।

वह आत्मा के अपने घर की बात है। इसलिये अवश्य समझ में आ सकती है। जिसमें परवस्तु नहीं, राग नहीं, ऐसे नित्यानंदरूप शुद्धात्मा के सन्मुख होकर जो ज्ञान होता है, वही सम्यग्ज्ञान है। उसका आधार आत्मा ही है, आत्मा के आधार से तन्मय हुआ ज्ञान, वही सम्यग्ज्ञान है; इसीप्रकार सम्यग्दर्शन भी शुद्धात्मा के आश्रय से ही है, इसलिये शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। आधार-आधेय को एक बनाकर सम्यग्दर्शन को शुद्धात्मा कहा। शुद्धात्मा वह सम्यग्दर्शन का आश्रय होने से वही सम्यग्दर्शन है। देखो, सम्यग्दर्शन में विकल्प का आश्रय नहीं, पर का-देव-गुरु का आश्रय नहीं; पर्याय के भेद का आश्रय नहीं। अभेद ऐसे शुद्धात्मा का आश्रय लेकर उसमें एकता करने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। इसलिये शुद्धात्मा के आश्रय से अंदर से आत्मा के आनंद की ध्वनि आती है अर्थात् अनुभव होता है—यह सम्यग्दर्शन है। प्रभु! तू अपने घर में अंदर जाकर आत्मा को जागृत करके ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन में शुद्धात्मा ही समीप है, विकल्प समीप नहीं है, वह तो दूर हैं—भिन्न हैं। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र में भी शुद्ध आत्मा ही समीप है, पंचमहाव्रत के तथा शास्त्र-अध्ययन के विकल्प समीप नहीं हैं, दूर हैं-भिन्न हैं, इन विकल्पों के द्वारा आत्मा का बड़प्पन नहीं है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा ही आत्मा का बड़प्पन है, तथा यही मोक्ष का साधन है। पर के आश्रय से आत्मा का बड़प्पन किसप्रकार हो सकता है ? पर के आश्रय से होनेवाले व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं हैं; इसलिये इनका तो मोक्षमार्ग में निषेध ही है; तथा शुद्धात्मा के आश्रय से होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारण हैं; जहाँ शुद्धात्मा का आश्रय हो, वहाँ नियम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते ही हैं; इसलिये शुद्धात्मा ही उपादेय है—यही परम जैन सिद्धांत है।

# स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट हो, उसका नाम जिनमत

चिदानंद स्वभाव का जिसको रंग लगा, उसको धर्म का रंग लगा कहा जाता है; उसकी महिमा मेरु से भी महान है।
(समयसार, गाथा १२ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से)

परभावों से भिन्न ज्ञायकस्वभाव को पहिचानकर उसके अनुभव में एकाग्र होना, वह शुद्धनय है; उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, वह तीर्थ है। यह शुद्ध सद्भूतव्यवहार है। पर्याय में ऐसी साधकदशा के अनेक प्रकार हैं, वे जानने योग्य हैं। शुद्धस्वभाव में एकाग्र होकर निर्मल पर्याय प्रगट करना चाहिये—उसमें निश्चय-व्यवहार दोनों आ जाते हैं।

**'जहाँ चेतन वहाँ अनंतगुण केवली बोले अेम;**
**प्रगट अनुभव आत्मा का निर्मल करो सप्रेम'...**

चैतन्य का प्रेम करना अर्थात् उसमें एकता करना; अखंड चिदानंदस्वभाव में निर्मल पर्यायें प्रगट करने की शक्ति है, ऐसी वस्तु को लक्ष में लेना, वह निश्चय है; उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट हो, वह व्यवहार है; वह निश्चयमोक्षमार्गरूप पर्याय है। रागादि विकल्प, वह तो अशुद्ध व्यवहार है।

संपूर्ण वस्तु की अपेक्षा से निर्मल पर्याय वह एक अंश है, अंश होने के कारण सद्भूतव्यवहार है। उसमें साधकदशा, वह तीर्थ है तथा मोक्षदशा प्रगट हो, वह तीर्थफल है; ऐसा तीर्थ और तीर्थफल वह दोनों व्यवहार हैं, अंश हैं, पर्याय हैं। द्रव्यरूप से आत्मा भगवान है, वह निश्चय है तथा उसके आश्रय से परमात्मपद प्रगट हो, वह व्यवहार है। ऐसा भगवान आत्मा राग तथा रोग से रहित चिदानंद प्रभु, उसकी पहिचान करके अनुभव में लेने जैसा है।

जिनमत अर्थात् वीतरागमार्ग। आत्मा की निर्मलदशारूप मोक्षमार्ग जिसप्रकार प्रगट होता है, उसका नाम जिनमत है। हे जीवो! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो

अर्थात् आत्मा में वीतरागपर्याय प्रगट करना चाहते हो तो निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयों को समझो; इन दो नयों का त्याग मत करो।

निश्चय तो वस्तुस्वरूप को बतलाता है; व्यवहार, वह तीर्थ तथा तीर्थफलरूप पर्यायों को बतलाता है। निश्चय के बिना अखंड वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती और व्यवहार के बिना मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये दोनों नयों को समझकर मोक्षमार्ग की साधना करना चाहिये। शुद्धद्रव्य तो निश्चय है तथा उसके आश्रय से मोक्षमार्ग को साधना, वह व्यवहार है। अपनी निर्मल पर्याय, वही व्यवहार है।

अहो, चैतन्य में परम निधान भरे हुए हैं। सादि-अनंत काल तक सिद्धपद प्रगट होते रहें फिर भी जिसके वैभव का अंत नहीं आ सकता, ऐसा जगत में सर्वश्रेष्ठ आत्मा है, उसकी महिमा मेरु से भी महान है। चिदानंदस्वभाव का जिसको रंग लगे, उसको धर्म का रंग लगा कहा जाता है, उसको अब मोक्ष प्राप्त करने के क्रम में भंग नहीं पड़ेगा। अहो, ऐसा महिमावंत दिव्यशक्तिमान प्रभु आत्मा, वह निजमहिमा को भूलकर परपदार्थ की महिमा करके मोहित हो रहा है-दु:खी हो रहा है। संत करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे, यह दिव्य शक्तिवाला देव स्वयं अपने को भूलकर दु:खी हो रहा है, इस दु:ख से मुक्ति कैसे मिले? आत्मा के निर्दोष वीतरागी आनंद का अनुभव किसप्रकार हो? उसकी यह बात है। आत्मा के शुद्धस्वरूप की निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयों से पहिचान करना चाहिये; शुद्धद्रव्य त्रिकाल है, उसको पहिचानो तथा उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसको भी पहिचानो; ऐसे वस्तुस्वरूप को जानने से शुद्धस्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।—इसका नाम जिनमत है।

## सम्बोधन!

हे जीव! यदि तू नित्य सुख को चाहता है तो प्रथम भेदविज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अपने आत्मा के द्वारा निर्णय कर, सुदेव की सेवा कर, अनुभवी ज्ञानीजन का संग कर, त्रैकालिक ज्ञाता के अवलंबन द्वारा क्रोधादिक का त्याग कर, ज्ञान का अभ्यास कर, ज्ञानधर्म के प्रकाश द्वारा विषयरूपी शत्रु का नाश कर, धर्मरूपी मित्र का मित्र बनकर शरण ले, हिंसा तज, व्यसनों से दूर रह, नीति का सेवन कर!

# तत्त्वचर्चा

❀ भगवत्धर्म सूक्ष्म है, अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग का धर्म सूक्ष्म है; राग तो स्थूल परिणाम है; उसके द्वारा धर्म प्राप्त नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म ऐसा जो भगवत्धर्म-वीतरागधर्म, वह तो सूक्ष्म-अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

❀ हे जीव! रत्नत्रय के सुंदर पुष्पों से खिले हुए तेरे चैतन्य के बाग में पाँच इन्द्रिय-विषयोंरूपी ऊँटों को तू स्वतंत्र मत छोड़, नहीं तो यह ऊँट तेरे उत्तम चैतन्यबाग को उजाड़ डालेंगे। सम्यक्त्व सहित वैराग्यरूपी परकोटे से चैतन्यबाग की रक्षा करना।

## ❀ सुख के लिये शरण ❀

अहो, अनादि से जिसका शरण नहीं लेने के कारण जीव संसार में दु:खी हो रहा है, ऐसा शरणभूत ज्ञानानंदमय आत्मा, इसका जिसने शरण लिया, वह जीव स्वयमेव सुखी है; सुख के लिये जगत के किसी भी पदार्थ की उसको इच्छा नहीं। सुख से भरा हुआ अपना आत्मा, उसके अनुभव के द्वारा ही जीव सुखी है।

## ❀ भगवान का उत्तराधिकारी ❀

भगवान कहते हैं कि हे जीव! आनंद का खजाना हमने खोला है; हमारे इस आनंद के खजाने का उत्तराधिकारी तुझे नियुक्त करना है। तुझे इस आनंद के खजाने का उत्तराधिकार प्राप्त करना हो तो तू अंतर में चिदानंदस्वभाव के सन्मुख हो, देह से तथा राग से भिन्नता जानकर ज्ञानमय आत्मा को अनुभव में ले; तो तुझे भी हमारे जैसा ही आनंद का खजाना प्राप्त होगा।

—ऐसा है भगवान का उत्तराधिकारीपना।

❀ **प्रश्न:**—अज्ञानी ने समवसरण में भगवान को देखा होगा ?

**उत्तर:**—नहीं; उसने भगवान के दिव्य शरीर को देखा है, वाणी को सुना है, किंतु भगवान को नहीं देखा, भगवान के ज्ञानमय आत्मा को नहीं देखा और पहिचाना नहीं। दिव्य-देह तथा वाणी, वह कहीं भगवान नहीं है; भगवान तो उनसे भिन्न हैं। यदि भगवान को देखे-पहिचान ले तो आत्मा का स्वरूप पहिचानने में आ जाये और अज्ञान नहीं रहे।

❀ **प्रश्नः**—भरतक्षेत्र का जीव भगवान को देख सकता है ?

**उत्तरः**—हाँ; सम्यग्ज्ञान के बल से भरतक्षेत्र का जीव भी भगवान के स्वरूप को देख सकता है-पहिचान सकता है। क्षेत्र से नजदीक हो, तभी भगवान का स्वरूप पहिचाना जा सके—ऐसा कुछ नहीं। समंतभद्राचार्य ने सर्वज्ञ वीतराग परमहितोपदेशक ऐसे भगवान को पहिचानने की रीति आप्तमीमांसा ग्रंथ में बतलाई है।

**प्रश्नः**—विदेहक्षेत्र में मनुष्य की आयु कितनी होती है ?

**उत्तरः**—उत्कृष्ट आयु करोड़ पूर्व की होती है।

**प्रश्नः**—वहाँ इससे कम आयु हो सकती है ?

**उत्तरः**—जी हाँ, बहुत जीवों की इससे भी कम आयु होती है। वहाँ के जो सीमंधरादिक जिनेन्द्र बीस तीर्थंकर हैं, उनकी तो करोड़ पूर्व की उत्कृष्ट आयु ही होती है; अन्य सामान्य जीवों में अल्प आयु भी होती है। (जो भोगभूमि में युगलिया मनुष्य हैं, उनकी आयु असंख्यात वर्ष की होती है।)

**प्रश्नः**—विदेहक्षेत्र के जीव मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं-यह सत्य है ?

**उत्तरः**—नहीं; वह संसार की चार गतियों तथा पंचमगति-मोक्षगति, इनमें से किसी भी गति में जाते हैं। भोगभूमि के जीवों के लिये यह नियम है कि वह मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं, अन्य किसी गति में नहीं जाते।

❀ **प्रश्नः**—भरतक्षेत्र का सम्यग्दृष्टि जीव मरकर विदेहक्षेत्र में उत्पन्न हो सकता है ?

**उत्तरः**—नहीं, सीधा वहाँ उत्पन्न नहीं होता; बीच में स्वर्ग का भव करके पश्चात् उत्पन्न हो सकता है। किसी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त करने के पहले मनुष्य की आयु बाँध ली हो तो वह भोगभूमि का मनुष्य होता है।

# सती चंदनबाला

**[ जिसके जीवन से धर्म तथा धैर्य के उत्तम आदर्श की प्रेरणा मिलती है ]**

भगवान महावीर की माता त्रिशलादेवी; वैशालीनगरी के राजा चेटक की पुत्री। चेटक राजा के सात पुत्रियाँ थीं, जिनमें सबसे बड़ी त्रिशला तथा सबसे छोटी चंदनबाला। चंदनबाला सबसे छोटी होने पर भी उसने ऐसा महान कार्य किया कि भगवान महावीर के समवसरण में ३६००० अर्जिकाओं में वह शिरोमणि (नायक, प्रधान) हुई। जिसप्रकार गौतमस्वामी चौदह हजार मुनियों में मुख्य गणधर थे, उसीप्रकार सती चंदनबाला भी ३६००० अर्जिकाओं में मुख्य अर्जिका थीं।

भगवान महावीर की सबसे छोटी मौसी सती चंदनबाला ने बचपन से ही धार्मिक उच्च संस्कार धारण किये थे। इनकी मामी यशस्वती दीक्षा लेकर अर्जिका हुई थीं; उन्हीं के समीप चंदना ने बचपन से सम्यग्दर्शन एवं व्रत ग्रहण किये थे। एक बार यह चंदना अपनी सखियों के साथ वनक्रीड़ा कर रही थी; वहाँ उनकी सुंदरता पर मोहित होकर मनोवेग नाम का विद्याधर उनका अपहरण कर ले गया; किंतु उसकी रानी मनोवेगा ने उसके कार्य को अनुचित बतलाकर चंदना को मुक्त करवाया। मनोवेग विद्याधर ने उन्हें भूतवन में छोड़ दिया। इस घोर वन में पड़ी हुई चंदना ने पंचपरमेष्ठी भगवान का स्मरण करके रात्रि व्यतीत की।

प्रात:काल उस वन का एक भील वहाँ आ पहुँचा। चंदनबाला ने उसको धर्मोपदेश देकर समझाया तथा आभूषण उपहार में दिये; इससे वह प्रसन्न होकर चंदना को उस वन के राजा सिंह नामक भील के समीप ले गया। वह दुष्ट भीलराजा भी चंदना के ऊपर मोहित हो गया तथा उसे कामवासना के हेतु दु:ख पहुँचाने लगा, किंतु चंदना सती तो शक्ति में दृढ़ रहकर धर्म का स्मरण करने लगी। दृढ़ शीलवती चंदना का तेज देखकर भील की माता को ऐसा भ्रम हुआ कि यह तो कोई देवी है; अगर यह कोपायमान हो गई तो श्राप दे देगी। इस भय के कारण उसने भील को समझाया तथा चंदना को मुक्त करवाया।

इसप्रकार अनेक संकटों के मध्य भी अपने शीलधर्म में दृढ़ रहती हुई चंदना राजकुमारी

ने धर्म का विस्मरण नहीं किया; कहाँ राजपुत्री और कहाँ उस भील का घर ? उस भील राजा ने चंदना सती को अपने मित्र को उपहार स्वरूप दे दिया; इस मित्र ने भी अधिक धन के लालच से कौशाम्बी नगरी के वृषभसेन सेठ को दे दिया। वृषभसेन सेठ धर्मातमा थे, जैन धर्म के भक्त थे, वात्सल्यवंत थे। उन्होंने चंदना को किसी श्रेष्ठ कुल की शीलवती धर्मात्मा जानकर अपने घर पर रखा, तथा वात्सल्यपूर्वक पुत्री के समान पालन करने लगे।

चंदना के प्रति सेठ के इस पवित्र प्रेम को सेठानी सहन नहीं कर सकी, और शंकित होकर कष्ट देने लगी। चाहे जैसे संकट में भी चंदना धैर्यपूर्वक धर्मध्यान में अपने मन को लगाती... तथा विचार करती कि मेरे किसी पूर्व कर्म का यह फल उदय में आया है। धन्य है त्रिशला बहिन के पुत्र महावीर को, जो इस संसार का मोह त्याग करके मुनि होकर आत्मस्वरूप की साधना करने में तत्पर हैं। अल्पकाल में वे तीर्थंकर बनेंगे। अहा! कब मैं उनका दर्शन प्राप्त करूँगी ? तथा कब यह संसार छोड़कर अर्जिका बनूँगी ? ऐसी भावनापूर्वक बेड़ी के बंधन में जकड़ी हुई चंदना दिन व्यतीत करती है। देखो, संसार की विचित्रता! चंदना की बहिन मृगावती इस कौशाम्बी नगरी की महारानी होकर राजमहल में विराजमान है, और उसकी छोटी बहिन उसी नगरी में बेड़ी में पड़ी हुई है। मृगावती को इसकी खबर भी नहीं है।

अब, मुनिदशा में विचरण करते भगवान महावीर एक दिन इस कौशाम्बीनगरी में पधारे... नगर निवासी उनके दर्शन से धन्य हुए। बेड़ी में बँधी हुई चंदनबाला भी भगवान के दर्शन तथा उनको आहारदान देने की उत्तम भावना का चिंतवन करने लगी... ठीक उसी समय मुनिराज महावीर आहार के लिये उस ओर पधारे। अहा, प्रभु को देखते ही चंदना का हृदय अचिंत्य भक्ति से उल्लसित हो गया... भगवान को पड़गाहन के लिये जहाँ पाँव उठाया वहाँ तो उसकी बेड़ी के बंधन टूट गये.... बेड़ी के बदले सुवर्ण के आभूषण बन गये... सुभद्रा सेठानी द्वारा दिया हुआ तुच्छ भोजन उत्तम आहार बन गया। अत्यंत प्रसन्नता तथा नवधाभक्ति से चंदना ने महावीर मुनिराज को आहार दिया। उसके आनंद का पार नहीं था। देवताओं ने भी आनंद से बाजे बजाये, रत्नवृष्टि की, समस्त नगरी में आनंद-आनंद व्याप्त हो गया। चंदना सती का प्रभाव सर्वत्र फैल गया। यह समाचार सुनकर चंदना की बड़ी बहिन रानी मृगावती भी वहाँ आई तथा अपनी छोटी बहिन को देखते ही उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा। अरे, यह तो कौशाम्बी की महारानी की बहिन है—ऐसा जानते ही वृषभसेन सेठ तथा भद्रा सेठानी ने उससे क्षमा माँगी

फिर सब एकसाथ भगवान महावीर की वंदना करने लगे, साथ में हजारों नागरिक भी हो गये।

इस ओर भगवान महावीर को केवलज्ञान हो गया था, समवसरण में भगवान महावीर के उपदेश से महासती चंदना को संसार के प्रति तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से शोभायमान वह चंदना सती भगवान के समीप दीक्षित होकर अर्जिका हो गई। अर्जिका होकर चंदना तपश्चरण करने लगी। ज्ञान-ध्यान के प्रभाव से छत्तीस हजार अर्जिकाओं में चंदना ने प्रधानपद प्राप्त किया, तथा स्त्री-पर्याय का छेद करके एकावतारी होकर उत्तम स्वर्ग में गई।

ज्ञान तथा शील से शोभायमान वह चंदना का जीवनचरित्र भारत की सर्व महिलाओं के लिये परम पवित्र आदर्शरूप है। ऐसी आदर्श धर्मात्मा सतियाँ भारत का महान भूषण हैं।

## आध्यात्मिक पद

**( श्री पंडित गोपालदासजी वरैया )**

जिया तैंने भावलिंग नहिं धारौ... नहिं आतमराम विचारौ... जिया०
कै काहूसें ममता जोड़ी, कै पर दोष निहारौ,
कै काहूके प्राणघात कर नरक निगोद सिधारौ।।जिया०
दोय एकषट नव भवमाहीं भ्रमत भ्रमत जब हारौ,
अंतिम भव त्रय वक्र प्रथम में ज्ञान जघन्य उच्चारौ।।जिया०
तहँतैं निकस भटक भववन में नरभव आय सम्हारौ,
पंचताप तपि सुरपुर पहुँच्यो पुनि भवसिंधु मंझारौ।।जिया०
यह मानुष भव सुकुल पायके रत्नत्रय विस्तारौ,
दास उदास होउ भोगनतें आवागमन निवारौ।।जिया०
जिया तैंने भावलिंग नहिं धारौ।

# विविध समाचार

## इंदौर में जैनधर्म शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न

इस पाँचवें वर्ष भी २१ दिन तक जैनधर्म शिक्षण-शिविर का आयोजन तारीख २४ मई से तारीख १३ जून तक भारी उत्साहपूर्वक चलता रहा। उद्घाटन श्री सेठ राजकुमारसिंजी द्वारा हुआ था; उन्होंने आध्यात्मिक आयोजन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए निश्चय-व्यवहार और हेय-उपादेयता पर अपने विचार प्रगट किये। समारोह के अध्यक्ष विद्वान श्री पंडित हुकमचंदजी जयपुर ने सम्यक्त्व के पूर्व की भूमिका के रूप में जीवन में सदाचार का महत्व दर्शाया। निरंतर स्वाध्याय एवं अध्ययन द्वारा शुद्धात्मतत्त्व की पहिचान हेतु प्रयत्नशील रहने की सलाह दी। पंडित श्री नाथुलालजी शास्त्री ने जैन शिक्षण के महत्व को समझाया। कक्षाओं में जैन सिद्धांत प्रवेशिका, वीतराग-विज्ञान पाठमाला, बालबोध पाठमाला, छहढाला, द्रव्य-संग्रह के अध्यापन की व्यवस्था की गई थी। प्रतिदिन शिक्षण वर्ग में तत्त्वचर्चा, शंका-समाधान तथा प्रवचनों आदि के कार्यक्रम छह घंटे चलते थे, प्रतिदिन ८०० महिला, पुरुष, बालक, बालिकाओं तथा युवकों ने शिक्षण वर्ग में भाग लिया। प्रातः प्रवचन में १२०० करीब तथा रात्रि के प्रवचन में २४०० करीब संख्या में धर्म जिज्ञासुगण लाभ लेते थे। अध्यापन-कार्य में श्री चिमनभाई सोनगढ़, पंडित हुकमचंदजी जयपुर, श्री सुशीलकुमारजी राघौगढ़, श्री रतनलालजी इंदौर, पंडित शीलचंदजी विदिशा तथा श्री हीरालालजी गंगवाल का सहयोग प्राप्त हुआ था।

प्रवचनकर्ताओं में—पंडित हुकमचंदजी शास्त्री ४ दिन, श्री नेमीचंदजी पाटनी ३ दिन, श्री बाबूभाई ८ दिन, श्री पंडित खेमचंदभाई पाँच दिन तक मोक्षमार्गप्रकाशक, रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रवचनसार, समयसार के आधार पर निश्चय-व्यवहार, सुदेवादि, सम्यग्दर्शन तथा उसके आठ अंग, शुभभाव तथा सत्यार्थधर्म आदि विषयों पर दृष्टांत सहित अपनी-अपनी विशिष्ट शैली में प्रवचन किया। शिविर के अंत में ३५० की संख्या में श्रोताओं ने भाग लिया। प्रो. जमनालालजी ने शिक्षण कक्षावाले सभी को निरंतर स्वाध्याय करने के महत्व पर बल दिया। स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के प्रति उपकार प्रगट किया गया। जिन ४० छात्रों तथा प्रौढ़ों ने परीक्षा में उच्चस्थान प्राप्त किया था, उन सबको श्री खेमचंदभाई के कर-कमलों

द्वारा पारितोषिक दिये गये। श्री खेमचंदभाई ने आदरणीय पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्वामीजी के मार्ग-दर्शन में सारे भारतवर्ष में अध्यात्म-गंगा के बढ़ते हुए प्रवाह की चर्चा की।

मंत्री-पूनमचंद छाबड़ा सभापति-रतनलाल गंगवाल
दिगम्बर जैनधर्म-शिक्षण संयोजन समिति, इंदौर

**सागर ( म.प्र. )** सेठ श्री भगवानदास शोभालालजी के प्रयास से सोनगढ़ के विद्वान श्री चिमनलालजी तारीख ३०-६-७० को यहाँ पधारे। उनके द्वारा अपूर्व धर्म-प्रभावना हो रही है। प्रतिदिन प्रातः ७.०० से ९.०० बजे तक जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला तथा मोक्षमार्गप्रकाशक श्री दिगम्बर जैन चैत्यालय में, दोपहर को ३.०० से ४.०० बजे तक बीच के जिनमंदिर में, रात्रि को ९.०० से १०.०० तक समाज भूषण शेठ भगवानदास शोभालालजी के निवासस्थान पर। श्री पंडित चिमनभाई विद्वत्तापूर्ण शैली से जिज्ञासुओं को अध्यात्मरस का पान करा रहे हैं। सभी स्थानों पर उपस्थिति बहुत अधिक होती है। तारीख १४ तक यह आध्यात्मिक कार्यक्रम चिमनभाई द्वारा चलाया जायेगा, पश्चात् स्थानीय विद्वानों द्वारा भी कार्यक्रम जारी रहेगा।

माखनलाल बंदी, मंत्री-जैन मुमुक्षु मंडल, सागर

** ** **

## उज्जैन ( म.प्र. ) में जैनधर्म शिक्षण-शिविर

यहाँ तारीख १४-६-७० से तारीख २८-६-७० तक शिक्षण-शिविर का आयोजन किया गया था, जिसका उद्घाटन श्री पंडित खेमचंदभाई ( सोनगढ़ ) द्वारा हुआ। आपने ७ दिन रहकर हमेशा तीन बार समयसारजी पर प्रवचन दिये, जिसका समाज पर बहुत उत्तम प्रभाव पड़ा। हमेशा दोपहर में आप तत्त्वचर्चा एवं शंका-समाधान करते थे, आपके प्रभावपूर्ण प्रवचनों से सारे समाज पर इतना अच्छा प्रभाव हुआ कि हमने सोचा भी नहीं था।

लश्कर निवासी पंडित धन्नालालजी तथा सोनगढ़ से श्री चिमनलालजी को भी आमंत्रित किया गया था। जिन्होंने विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा दी। स्त्री-पुरुष एवं बालक बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे। प्रवचन में तथा शिक्षण में यहाँ के पंडित, वैद्य, वकील, जजसाहब आदि उपस्थित होकर लाभ लेते थे। परीक्षा में पंडित श्री चिमनभाई ने सुंदर प्रश्न-पत्र निकाले। परीक्षा में १५० स्त्री-पुरुष और बालकों ने भाग लिया। प्रश्न-पत्रों से बालकों का

उत्साह बहुत बढ़ गया। मंडल ने प्रतिवर्ष ऐसे शिविर के आयोजन का निर्णय किया है। यहाँ वीतराग-विज्ञान पाठशाला भी माघ मास से चालू है, संख्या बढ़ती जा रही है।

जाफरमलजी-अध्यक्ष

दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल क्षीरसागर दिगम्बर जैन मंदिर

** ** **

## उज्जैन में बृहद् सिद्धचक्र विधान एवं उत्तम धर्मप्रचार

यह विशाल आयोजन सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। इस प्रसंग पर सुप्रसिद्ध विद्वान श्री बाबुभाई (फतेपुर), श्री नाथूलालजी शास्त्री श्री गेंदालालजी शास्त्री द्वारा जो प्रवचन हुए, उससे जैन समाज में नवचेतना आई। पंडित श्री बाबूभाई के प्रवचन में हजारों की उपस्थिति होती थी। प्रवचन सर्वज्ञकथित निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक इतने सुस्पष्ट होते थे कि श्रोताओं के अंतस्तल को छूकर आह्लादित कर देते थे। श्रावण वदी १ को वीरशासन जयंती मनाई गई तथा रथयात्रा भी निकाली गई। अंतिम दिन उज्जैन की समस्त जैन संस्थाओं द्वारा आगन्तुक विद्वानों को अभिनंदन-पत्र दिया गया और श्री सत्यंधरकुमार सेठी ने श्री जीवणमल्लजी सूरजमलजी गोधा का—जिनकी तरफ से सिद्धचक्र के विधान हुआ था—आभार माना।

—सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन

** ** **

## ग्वालियर ( म.प्र. ) में अपूर्व धर्म-प्रभावना

श्री चंपालाल जैन की ओर से अष्टाह्निका पर्व में सिद्धचक्र विधान श्री तेरहपंथी दिगम्बर जिनमंदिर माधौगंज में सानंद संपन्न हुआ। पूजा विधान में पंडित बाबूलालजी थे। उस समय वीतराग-विज्ञान शिक्षण-शिविर भी चलता था तथा वाणीभूषण पंडित ज्ञानचंदजी (विदिशा) द्वारा हमेशा प्रवचन होते थे एवं स्थानीय विद्वानों के भी प्रवचन होते थे। तारीख १८वीं जुलाई को रथयात्रा विशाल आयोजन के साथ गई। स्थानीय जैनबंधु पंडित ज्ञानचंदजी के प्रवचन से बहुत प्रभावित हुये। १०१ संख्या में आत्मधर्म के ग्राहक बनाये गये और एक दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की स्थापना की गई, जिसमें संरक्षक श्री धर्मवीर, पंडित धन्नालालजी एवं श्री बाबू मानकिचदंजी तथा अन्य १३ कार्यकर्ता चुने गये। जैन समाज ने श्री

ज्ञानचंदजी को सम्मान-पत्र दिया एवं पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रति श्रद्धांजलि और आभार प्रगट किया। —चम्पालाल जैन

** ** **

## अशोकनगर में श्री वीतरागविज्ञान पाठशाला का उद्घाटन

विदिशा जैन शिक्षण शिविर में हमने जयपुर निवासी पंडित हुकमचंदजी को आमंत्रण दिया था। आपने तीन दिन तक हजारों श्रोताओं को संतुष्ट किया। आध्यात्मिक उपदेश से प्रभावित होकर तारीख १२-७-७० को यहाँ की जैन समाज के तत्त्वावधान में श्री वीतराग विज्ञान पाठशाला का उद्घाटन समारोह संपन्न हुआ। उद्घाटनकर्ता श्री रामलालजी सौगानी ने २५१) पाठशाला को भेंटस्वरूप दिये, तथा २०) रुपये महावार आजन्म सहायता देने की घोषणा की है। सौ. विदुशी मैनाबाई चौधरी ने एक साल के लिये नि:शुल्क अध्यापन की स्वीकृति दी। एक अध्यापक की भी नियुक्ति की गई है। इसप्रकार पाठशाला का कार्यक्रम दोनों समय चलेगा। इस शुभ अवसर पर १५००) रुपये की धनराशि की अन्य घोषणाएँ भी हुई हैं। जयपुर निवासी छात्र परमात्मप्रकाश एवं अध्यात्मप्रकाश द्वारा प्रदर्शित (पंडित टोडरमलजी एवं श्री गुमानीरामजी का) निश्चय-व्यवहार संबंधी संवाद का उत्तम प्रभावशाली कार्यक्रम रहा। —कस्तूरचंद जैन तथा कपूरचंद जैन, अशोकनगर

** ** **

**ललितपुर :**—हमारे विशेष निमंत्रण पर श्री पंडित हुकमचंदजी शास्त्री (जयपुर) यहाँ आये। दिनांक २३-२४ जून को आपके ओजस्वी अध्यात्म-प्रवचनों से हजारों नर-नारियों ने लाभ लिया।

आपके द्वारा गूढ़ विषयों पर भी वैज्ञानिक पद्धति से एवं सरल भाषा में किये गये प्रवचनों को सुनकर समस्त श्रोताओं ने विशेष प्रभावित होकर एक स्वाध्याय-मंडल की स्थापना की और नियमित स्वाध्याय करने का अनेक लोगों ने संकल्प किया।

—चम्पालाल जैन

** ** **

## 'जैनज्योति नवयुक संघ'

विदिशा में जैन प्रशिक्षण-शिविर की व्यवस्था एवं उत्तम शैली देखकर समाज में अति

आवश्यक नया मोड़ लाने के हेतु श्री दिगम्बर जैन अखिल हिन्दी भाषीय 'जैनज्योति नवयुवक संघ' की स्थापना पंडित श्री हुकमचंदजी जैन, एम.ए., शास्त्री जयपुर के तत्त्वावधान में हुई एवं उसी समय एक कमेटी का भी निर्माण हुआ।

** ** **

### मंदसौर ( म.प्र. ) में

## सिद्धचक्र विधान के अवसर पर अपूर्व धर्म-प्रभावना

दिनांक ११-७-७० से १८-७-७० तक अष्टाह्निका पर्व में हमारे यहाँ मुमुक्षु मंडल की ओर से श्री सिद्धचक्र मंडल विधान का उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर श्री पंडित हिम्मतलालजी बम्बईवाले सोनगढ़ से पधारे थे। प्रतिदिन चार घंटे आपके विविध कार्यक्रम होते थे। प्रात: ८.०० से ९.०० बजे तक जीवनविलास में श्री समयसार कर्ताकर्म अधिकार की ७२वीं गाथा पर प्रभावशाली प्रवचन होता था; दोपहर को २.०० से ३.०० बजे तक जैन शिक्षण-शिविर चलता था, जिसमें पंडितजी जैन सिद्धांत प्रवेशिका में से छहद्रव्य, उनके सामान्य-विशेष गुण आदि विषय सुगम शैली में समझाते थे और सब शिक्षार्थी रुचिपूर्वक अध्ययन करते थे। सायंकाल ३.०० से ४.०० बजे तक शंका-समाधान का कार्यक्रम चलता था, जिसमें दो सौ करीब स्त्री-पुरुष भाग लेते थे और बड़ी तन्मयता से सुनते थे।

श्री पंडित भगवानदासजी एवं श्री पंडित सुखलालजी ने भी तत्त्वचर्चा में भाग लिया था। पंडितजी बड़े ही सरल ढंग से शास्त्रप्रमाण देकर शंकाओं का समाधान करते थे।

रात्रि को ८.०० से ९.०० बजे तक मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार पर बड़े चौक में प्रवचन होता था। जिसमें श्रोताओं की उपस्थिति करीब १५०० की रहती थी।

अंतिम दिन तारीख १८-७-७० को जलयात्रा एवं अभिषेक का कार्यक्रम था। बड़ी सभा के बीच मनासा निवासी श्री बसंतीलालजी की अध्यक्षता में पंडितजी को मुमुक्षु मंडल की ओर से सम्मान-पत्र एवं आभार-दर्शन के साथ उत्सव की पूर्णाहुति हुई। दिनांक १८-७-७० की रात्रि को पंडितजी ने प्रतापगढ़ के लिये प्रस्थान किया।

कन्हैयालाल खाविया
मंत्री-दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल

** ** **

# सोनगढ़ में प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी सोनगढ़ में प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर दिनांक ७-८-७० शुक्रवार से प्रारंभ होकर दिनांक २६-८-७० बुधवार तक चलेगा। यह शिविर सिर्फ पुरुषों के लिये है।

शिविर में सम्मिलित होने के इच्छुक मुमुक्षु भाई अपने आने की सूचना नाम व पूरे पते सहित भिजवा देंवे, और समय पर सोनगढ़ आ जावें।

आनेवाले भाईयों से निवेदन है कि अपना बिस्तर एवं आवश्यक सामान साथ लेते आयें। आवास एवं भोजन की व्यवस्था संस्था की ओर से की जाती है।

सोनगढ़ शिक्षण-शिविर में आने से धार्मिक शिक्षण के उपरांत यहाँ के जिनमंदिर में विराजमान श्री सीमंधर भगवान की भव्य मूर्ति एवं विशाल मानस्तंभजी के दर्शन-पूजन का लाभ भी मिलेगा और पूज्यश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन सुनने का परम सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

इस धार्मिक शिक्षण-शिविर में उत्तम कक्षा में श्री 'जैनतत्त्व मीमांसा' पुस्तक चलेगी। जिन मुमुक्षुओं के पास यह पुस्तक हो, वे अवश्य लेते आयें।

प्रेषक—

**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट**

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

# श्री 'समयसार नाटक' के संबंध में

जिन महानुभावों ने हमें पंडित बनारसीदासजी रचित श्री समयसार नाटक की प्रतियों का आर्डर पहले से दिया है, उनमें से अनेक भाईयों के पत्र आते रहते हैं कि ग्रंथ कब तक तैयार होगा ? इस संबंध में निवेदन है कि—

समयसार नाटक की छपाई का कार्य चल रहा है। तैयार होने में करीब दो-ढाई महीने और लग जायेंगे। दिवाली से पूर्व ही ग्रंथ आपको भेज सकेंगे, ऐसी आशा है।

प्रेषक—

**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट**

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

**विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—**

# सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| १ | समयसार | (प्रेस में) |
| २ | प्रवचनसार | ४.०० |
| ३ | समयसार कलश-टीका | २.७५ |
| ४ | पंचास्तिकाय-संग्रह | ३.५० |
| ५ | नियमसार | ४.०० |
| ६ | समयसार प्रवचन (भाग-४) | ४.०० |
| ७ | मुक्ति का मार्ग | ०.५० |
| ८ | जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१ | ०.७५ |
| | " " " भाग-२ | १.०० |
| | " " " भाग-३ | ०.५० |
| ९ | चिद्विलास | १.५० |
| १० | जैन बालपोथी | ०.२५ |
| ११ | समयसार पद्यानुवाद | ०.२५ |
| १२ | द्रव्यसंग्रह | ०.८५ |
| १३ | छहढाला (सचित्र) | १.०० |
| १४ | अध्यात्म-संदेश | १.५० |
| १५ | नियमसार (हरिगीत) | ०.२५ |
| १६ | धर्म के संबंध में अनेक भूलें | बिना मूल्य |
| १७ | अष्ट-प्रवचन | १.५० |
| १८ | मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली) | २.२५ |
| १९ | अपूर्व अवसर-प्रवचन | १.५० |
| २० | पण्डित टोडरमलजी स्मारिका | १.०० |
| २१ | बालबोध पाठमाला, भाग-१ | ०.४० |
| २२ | बालबोध पाठमाला, भाग-२ | ०.५० |
| २३ | बालबोध पाठमाला, भाग-३ | ०.५५ |
| २४ | वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१ | ०.५० |
| २५ | वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२ | ०.६५ |
| २६ | वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-३ | ०.६५ |
| | छह पुस्तकों का कुल मूल्य | ३.२५ |
| २७ | लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका | ०.२५ |
| २८ | सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक) | ०.५० |
| २९ | मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र) | ६.०० |

**प्राप्तिस्थान :**

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)